ॐ

# चर्चासागर समीक्षा !

लेखक :—

श्री पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ,

सूरत !

प्रकाशक :—

ला० जौहरीमल जैन सर्राफ़,

दरीबा कलाँ, देहली।

मुद्रक :—

"चैतन्य" प्रिन्टिङ्ग प्रेस, बिजनौर यू. पी.

प्रथमावृति | नवम्बर सन् १९३२ ई० | मूल्य चर्चासागर पर विचार

चालू रक्खा। तव लाला निर्भयरामजी देहली ने मुझे 'चर्चा-सागर समीक्षा' लिखने के लिये प्रेरित किया।

तदनुसार मैंने २०-२५ दिन तक लगातार परिश्रम करके यह पुस्तक उन्हीं दिनों में तैयार कर के उनके पास भेज दी थी; कारण कि ला० निर्भयरामजी इसे जल्दी पूर्ण करने के लिये प्रेरित करते रहे थे। किन्तु कई कारणों से यह समीक्षा आज करीब ९ माह वाद प्रगट हो रही है ! फिर भी इसकी उपयोगिता आजभी कम नहीं हुई है।

पं० भगवानदास जी शास्त्री मन्दसौर के लेखों की मुझे वहुत कुछ मदद मिली है और लाला जौहरीमल जी सर्राफ़ देहली ने प्रयत्न करके इसे प्रगट कराया है तथा परम श्रद्धेय प्रेमी जी ने मेरे निवेदन को स्वीकार करके इसकी वहुमूल्य भूमिका भी तुरन्त लिख दी है; इसलिये इन महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूं !

श्रीमान पं० पन्नालाल जी गोधा इन्दौर ने उचित परामर्श देकर मुझे उपकृत वनाया है, उनका भी आभारी हूं।

चन्दावाड़ी-सूरत
ता० १५-१०-३२

आगम भक्त—
परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ।
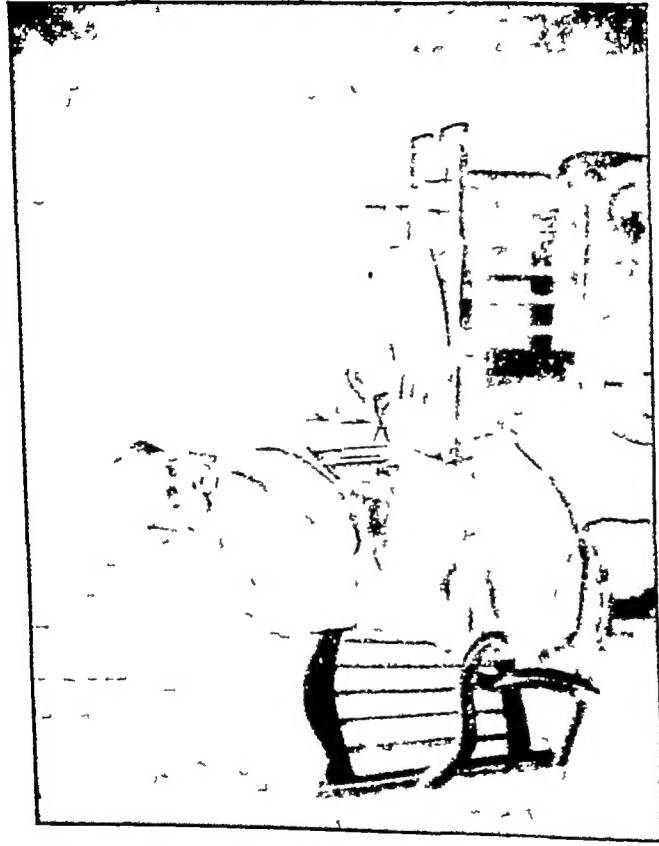
स्याद्वादवारिधि, जैन सिद्धान्त महोदधि जातिभूषण,
पं० वंशीधर जी न्यायालङ्कार इन्दौर

# समर्पण

स्याद्वादवारिधि, जैन सिद्धान्त महोदधि, न्यायालंकार
पं० वंशीधर जी सिद्धान्तशास्त्री के
कर-कमलों में :—

गुरु देव !

स्फटिक जैसे उज्ज्वल जैनधर्म से चर्चासागर सरीखे कलंकों को धोकर उसकी दिव्य आभा प्रगटाना यह आपका सदा का आदेश रहा है। उसी आदेश से प्रेरित हो मैंने यह प्रस्तुत प्रयास किया है। इसमें आपके ही उपदेश, आपके ही आदेश और आपकी ही पवित्र आकांक्षायें हैं।

अतः आपकी वस्तु आपके ही कर-कमलों में समर्पण करते हुये मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। —'परमेष्ठी'

# प्रकाशकीय निवेदन !

अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं, एक मिथ्याज्ञान—झूठा ज्ञान—और दूसरा ज्ञानका अभाव। जहां दूसरे में कर्तव्यमार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती है वहाँ पहिले के कारण कर्तव्यमार्ग में उलटी प्रवृत्ति हो जाती है, किसी काम में प्रवृत्ति न करने के बजाय उसमें उलटी प्रवृत्ति कर देना अधिक हानिकारक है। कौन कह सकता है कि उन दोनों मनुष्यों में से जो कि लाहौर को जाना चाहते हैं उस मनुष्य से जिसने मार्ग का पता न चलने से अभी चलना ही प्रारम्भ नहीं किया वह आदमी अच्छा है जिसने लाहौर के मार्ग को उलटा समझ कर कलकत्ते की तरफ़ चलना शुरु कर दिया है।

चर्चासागर में जो बातें बतलाई गई हैं और जिनके ऊपर समाज में काफ़ी विरोध हो चुका है वे बातें मूलसंघ के ही प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु दिगम्बर धर्म एवं उसके हरएक संघ के बाह्य है। ऐसी अवस्था में जिन महानुभावों ने चर्चासागर को पढ़ा है उनकी प्रवृत्तियों के उलटी हो जाने की सम्भावना है। अतः जैनसमाज से विशेषकर उन महानुभावों से हमारा नम्र-निवेदन है कि वे इस पुस्तक को पढ़ें और पढ़कर अपने विचारों का स्थितिकरण करें। साथ ही साथ हमारा उन भाइयों से विशेषकर उन पञ्चायतों से, जिनके यहाँ या भंडारों में चर्चासागर मौजूद है, नम्र निवेदन है कि वे =) का टिकट भेजकर इस पुस्तक को हमसे मंगवाकर उस पर विचार करें और इसे चर्चासागर के साथ ही साथ रखें। विनीत प्रार्थी—

**जौहरी मल जैन सर्राफ़,**

दरीबा कलाँ, देहली।

# * प्रस्तावना *

पण्डित-प्रवर आशाधर जी ने विक्रम की तेरहवीं शताब्दि में स्वोपज्ञ अनगार धर्मामृत टीका में एक श्लोक उद्धृत किया है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः ।
*शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं ॥*

अभी तक यह पता नहीं लगा है कि यह श्लोक किस ग्रन्थ का है; परन्तु उनके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ का है और इससे मालूम होता है कि बारहवीं तेरहवीं शताब्दि से बहुत पहले भगवान् जिनदेव का निर्मल शासन भ्रष्टचरित्र पण्डितों और वठर साधुओं की कृपा से मलिन हो गया था। ये वठर साधु और कोई नहीं, भट्टारक ही थे, जो मठपति बन गये थे और केवल नाममात्र को नग्न रहते थे या द्रव्यजिनलिङ्ग धारण करते थे *। पं० आशाधर जी ने उनके आचार को लोक और शास्त्र दोनों से विरुद्ध म्लेच्छों जैसा बतलाया है और मन-वचन-काय से उनके संसर्ग से बचने की प्रेरणा की है। उनके लिए उन्हों ने 'पुरुषाकार मिथ्यात्व' विशेषण दिया है।

---

* "अपरे पुनर्द्रव्यजिनलिङ्गधारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति म्लेच्छा इव आचरन्ति । लोक शास्त्र विरुद्धमाचार चरन्तीत्यर्थ-।"

—अध्याय २ श्लोक ९६ की टीका ।

इन लोगों ने केवल अपने आचरण से ही शासन को मलिन नहीं किया था, अपने अज्ञान से भी जैनधर्म को विकृत किया था। कुछ लोगों का ख्याल है कि भट्टारक स्वयं तो भ्रष्ट हो गये थे, परन्तु उन्हों ने जैनधर्म को भ्रष्ट नहीं किया था; उसके स्वरूप को वे ज्यों का त्यों प्रतिपादन करते रहे थे। परन्तु यह कथन अविचारित-रम्य है। जो धर्मगुरु थे, सारे जैन समाज को अपनी आज्ञा में चलाते थे, परम दिगम्बर मुनियों के समान पूजे जाते थे और ग्रन्थ रचना करते थे, यह असंभव है कि वे जैनशासन को ज्यों का त्यों बना रहने दें, अपने शिथिलाचार पर यथार्थाचार की मुहर लगाने की कोशिश न करें। जिन लोगों ने प्राचीन जैन साहित्य का और इन मठपतियों के साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं।

उभय भाषा कवि-चक्रवर्ती कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य श्रुतसागर ने, जो मठाधीश भट्टारक ही थे, दर्शन पाहुड की २४ वीं गाथा की संस्कृत टीका में उस समय के भट्टारकों की इस शिथिलता का पोषण किया है कि चर्या के समय, आहार लेने को जाते समय, चटाई आदि से नग्नता को ढंक लेना चाहिए और फिर उसे अलग कर देना चाहिये* । इसे

* "कोऽपवादवेष कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वा उपद्रव यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चति इत्युपदेश· कृत· संयमिनां, इत्यपवादवेष। तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः

उन्हों ने मुनियों का अपवाद वेष कहा है और भगवान कुन्द-कुन्द के उस षट्पाहुड़ ग्रन्थ की टीका में लिखने का साहस किया है जिसमें कि मुनि के लिए बालके आगे की नोक के भी बराबर परिग्रह के ग्रहण का निषेध किया है † और वस्त्र राहित्य को ही मोक्षमार्ग बतलाया है ‡ । तत्वार्थसूत्र की श्रुत सागरी टीका में लिखा है कि द्रव्यलिंगी असमर्थ महर्षि (?) शीतकालादि में कम्बलादि लेलेते हैं और फिर छोड़ देते हैं + । परमात्म प्रकाशकी २१६ वीं गाथा की टीका में ब्रह्मदेवजी ने भी तृणमय आवरण ( चटाई ) आदि लेने की जैनमुनि को छुट्टी दे दी है। और भद्रबाहु संहिता में उसके कर्त्ता किसी भ्रष्ट तपोधन ने तो यहाँ तक लिख दियाहै कि भरतक्षेत्र का जो कोई मुनि इस दुःषम पंचमकाल में संघ के क्रम को मिलाकर दिगम्बर हुआ भ्रमणकरता है वह मूढ़ है और उसे संघ के बाहर समझना चाहिए। इसी तरह वह मुनि भी अवन्दनीय है जो पाँच प्रकार

---

परम वैराग्यवान लिङ्गशुद्धिरहित· उत्पन्न मेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथाकरोति सोऽप्यवादलिङ्गः प्रोच्यते ।"

† बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणो ण होइ साहूणं ।

—सूत्र पाहुड़ गाथा १७ ।

‡ णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्ग या सव्वे ॥

—सूत्र पाहुड़ गाथा १० ।

+ 'संयम श्रुतप्रतिसेवनादि' सूत्र की टीका देखिए ।

के वस्त्रों से रहित है ×। ये दो उदाहरण ही यह समझ लेने के लिए काफ़ी हैं कि चारित्रभ्रष्ट और शिथिलाचारी पण्डितों और साधुओं ने अपने निर्माण किये हुए साहित्य में भी भ्रष्टता और शिथिलता का पोषण किया है।

भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी के नाम से प्रचलित किये हुए इस साहित्यसे और इनके प्रचारकों से जैनधर्म के मूलभूत तत्वों की रक्षा करने के लिए समय समय पर अनेक विद्वानों और तपस्वियों द्वारा प्रयत्न होता रहा है और पं० आशाधर जी द्वारा उद्धृत पूर्वों का श्लोक ऐसे ही किसी सच्चे जैनी के हृदय का उद्गार है। खेद है कि इस प्रकार के प्रयत्नों का हमारे यहा कोई इतिहास नहीं मिलता है। परन्तु यह निस्सन्देह है कि इस-प्रकार के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। इस विषय के पिछले प्रयत्न-कर्त्ता सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक पं० बनारसीदास जी थे ÷ जिनके अनुयायियों का समूह पीछे से शुद्धाम्नायी या तेरह पन्थी कहला-

---

× "भरते दु·षमसमये पंचमकाले संघक्रमं मेलयित्वा यो मूढ़ परिवर्तते चतुर्दिक्षुविरत विरक्त मन् दिगम्बर· मन् स्वेच्छया भ्रमति म श्रमण· सघबाह्य ।"

पासत्थाण सेवी पासत्थो पंच चेल परिहीणो।
विवरीयहूपवादी अवदणिज्जो जई होई ॥ १४ ॥

—खंड २, अध्याय ७।

÷ जैनहितैषी भाग १४ अङ्क ४ में प्रकाशित 'वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय अर्थात् तेरहपन्थ और बीसपन्थ' शीर्षक लेख में इस विषय पर खूब विस्तार से विचार किया गया है।

था और जिसने सर्वसाधारण की समझ में आने वाली भाषा में सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद करके और बहुत सा विवेचनात्मक मौलिक साहित्य लिखकर मठाधीशों या भट्टारकों की सत्ता को जड़से उखाड़कर फेंक दिया। वास्तव में यह कोई नया पंथ या सम्प्रदाय नहीं था, परन्तु मलिनीकृत जिन शासन को फिर से निर्मल करने का संगठित प्रयत्न था और इसके विरोधियों ने ही इसे बनारसिया पन्थ † या तेरह पन्थ आदि नामों से प्रसिद्ध कर दिया था।

भट्टारकों की सत्ता तो उखड़ गई, एक तरह से उनका नाम शेष ही हो गया; परन्तु उनका साहित्य नष्ट नहीं हुआ, उसके विष-बीज हमारे पुस्तक भंडारों में अभी तक सुरक्षित हैं जिन पर इधर कुछ समय से हमारे समाज में जो नया पण्डित-दल उत्पन्न हुआ है, उसने श्रद्धाका जल-सिंचन करना शुरू कर दिया है और वे धीरे धीरे पनपने लगे हैं। भट्टारकों का यह सब साहित्य संस्कृत में है और चूंकि सर्वसाधारण धर्मप्राण लोगों की संस्कृत के प्रति अगाध श्रद्धा है, इस कारण पण्डित दल और भी तेज़ी के साथ अपना कार्य करने लगा है। बीच में पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की 'ग्रन्थ परीक्षा' नामक लेखमाला के कारण पण्डितदल के कार्य में बहुत कुछ रुकावट आ गई थी, परन्तु अब उसने मुनिसंघ का सहारा ले लिया है और इस कारण

---

† महोपाध्याय प० मेघविजय जी ने अपने 'युक्ति प्रबोध' नामक ग्रन्थ में 'वाणारसी मत' नाम से इस का उल्लेख किया है।

वह अपने को अजेय समझने लगा है। इससे उसका हौसला भ खूब बढ़ गया है। पिछले दो तीन वर्ष में इसने यज्ञोपवीत संस्कार, सूर्यप्रकाश, चर्चासागर, दानविचार आदि अनेक भट्टारकपन्थी ग्रंथ प्रकाशित करके अपने बढ़े हुए हौसले को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।

परन्तु हमारा विश्वास है कि स्वर्गीय पं० बनारसीदास जी, पं० टोडरमलजी आदि ने जो सदसद्विवेक ज्ञान की ज्योति प्रकट की थी वह सर्वथा बुझ नहीं गई है; हजारों लाखों धर्म-प्रेमियों के हृदय में वह आज भी प्रकाशमान है और इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि मलिनीकृत और निर्मल जिन शासनके भेदको समझने में उन्हे अधिक कठिनाई नहीं पड़ेगी— वे बहुत जल्दी समझ लेंगे। हां, समय समय पर समझाने का प्रयत्न होते रहना चाहिए।

पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ ने अपनी इस लेखमाला में यही प्रयत्न किया है और इसलिए निर्मल जिन-शासन के प्रत्येक उपासक को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

घाटकोपर-बम्बई
१२-१०-३२ } —नाथूराम प्रेमी।

ॐ

श्री परमेष्ठिने नमः ।

# चर्चासागर-समीक्षा ।

*आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।*
*तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥*

*श्री समन्तभद्रस्वामी* ने शास्त्र का लक्षण करते हुये रत्न-करण्ड श्रावकाचार में कहा है कि जो आप्त-सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित किया गया हो, जो वादी प्रतिवादियों से अबाधित हो, प्रत्यक्ष अनुमान से जिसमें कोई विरोध न आवे, तत्वों का या सारभूत उपदेश करने वाला हो, समस्त प्राणियों का हित कर्ता हो और कुमार्ग का खण्डन करने वाला हो वही शास्त्र है।

इस प्रकार जैनधर्म में शास्त्र का लक्षण बतलाया गया है। अमुक ग्रन्थ शास्त्र के नाम से निश्चित नहीं किये गये हैं।

इसी से मालूम होता है जैनधर्म परीक्षक होने का उपदेश करता है। जहां पर परीक्षा करने या शास्त्र का उक्त लक्षण मिलाने से कोई बाधा न आवे उसे शास्त्र या आगम मानना चाहिये। मगर दुःख का विषय है कि ऐसे परीक्षा प्रधानी, वैज्ञानिक जैनधर्म में स्वार्थी भट्टारकों आदि की करतूतों से आगम के नाम पर बहुत सा कूड़ा कचरा भर गया है। हालांकि इस बढ़ते हुये आगमाभास और उसके श्रद्धान को रोक कर स्व० पण्डितप्रवर टोडर मल जी, पं० सदासुखदास जी, कविवर पं० बनारसीदास जी, पं० जयचन्द जी, भैया भगवतीदास जी, पं० दौलतराम जी, तथा पं० पन्नालाल जी दूनी वाले आदि विद्वानों ने जैन समाज पर भारी उपकार किया है, फिर भी आज उस दबे हुये और बचे खुचे कूड़ा साहित्य का पुनः प्रचार होने लगा है।

ऐसे ही साहित्य में से अभी चर्चासागर का प्रकाशन हुआ है। इसके पूर्व त्रिवर्णाचार और सूर्यप्रकाश का भी प्रकाशन हो चुका है, जो चर्चासागर के जनक कहे जा सकते हैं। इनमें से त्रिवर्णाचार का तो सचोट खण्डन पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सा० ने ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग में बड़ी ही विद्वत्ता से किया है और सूर्य प्रकाश पर भी समीक्षा प्रारंभ हो गई है। चर्चासागर के संबन्ध में कुछ महीनों से जैन समाज में काफी चर्चा चल रही है। आगम की ओट में प्रगट किये गये इस चर्चासागर ने जैन समाज में एक भारी हलचल मचा दी है। इसके विरोध में दि० जैन समाज के अनेक उद्भट विद्वानों श्रीमानों और पंचायतों के मत प्रगट हो चुके हैं तथा अनेक लेख भी लिखे जा चुके हैं। फिर भी जो दुराग्रही हैं वे तो अपना हठ नहीं छोड़ सकते, किन्तु निर्दोष, भोले एवं श्रद्धालु जैनी भाई इस सुनहरी जाल में न फंस जायें इसलिये उन्हें सचेत करने की आवश्यका है।

इस चर्चासागर के कर्ता पांडे चम्पालाल हैं और यह

जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से शास्त्राकार ५३८ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की रचना का मूल उद्देश्य शुद्धाम्नाय तेरह पंथ को कोसने का या उसे नीचा दिखाने का मालूम होता है। कारण कि उसमें तेरह पंथ की उत्पत्ति का पृष्ठ ४६० पर बड़े ही भद्दे ढङ्ग से वर्णन किया गया है और तेरह पंथ की मान्यताओं की मज़ाक उड़ाई गई है। इस विषयको हम आगे स्पष्ट बतावेंगे, जिससे पांडे जी के पेट का पाप स्पष्ट मालूम हो जायगा। पांडे चम्पालाल की ऐसी अनेक द्वेषपूर्ण बातों का खुलासा हम आगे करेंगे। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में आगम और सदाचार के विरुद्ध भी अनेक कथन भरे पड़े हैं।

## चर्चा सागर का रचना काल और उसकी प्रमाणिकता।

पत्रों द्वारा यह बात तो प्रगट ही हो चुकी है कि चर्चा सागर के छपाने और उसके प्रचार करने में क्षुल्लक कहे जाने वाले ज्ञानसागर ( पं० नंदनलाल ) जी ने पूर्णभाग लियाहै और श्रीमान् सेठगंभीरमलजी पाण्ड्या कलकत्ताको धोखा देकर उनसे करीब ८५०) प्रकाशनार्थ सहायताके लिये निकलवाये थे। इस का स्पष्ट विवरण आगे प्रगट किये गये सेठ जी के पत्रसे मालूम हो जायगा। यह भी ज्ञात हुआ है कि ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने सगे भाई पं० लालाराम जी को ३००) दिलवाकर चर्चासागर को ढूंढारी भाषा से हिन्दी भाषा में करवाया है। मूल में तो और भी अनेक अनहोनी एवं आगमविरुद्ध चर्चायें भरी थीं, जिसे प्रकाशक जी ने काट छांट कर साफ कर डाली हैं, यह बात भी सेठ गंभीरमल जी के पत्र से मालूम हो जा-येगी। तीसरे सगे भाई पं० मक्खनलाल जी चर्चासागर के पूर्ण समर्थक हैं। इसी लिये आपने 'चर्चासागर ग्रन्थ पर शास्त्रीय

प्रमाण' नामक एक पोथा लिखा है ! इस प्रकार इन तीनों भाइयों ने अपना २ मतलब बनाकर समाजके सामने यह दूषित साहित्य उपस्थित किया है।

चर्चासागर के संपादक पं० लालाराम जी ने ३००) लेकर भी अपना नाम उस पर नहीं लिखा, कारण कि वे ग्रन्थके विषय में स्वयमेव शंकाशील थे। किन्तु पेट के कारण ही यह कार्य किया गया मालूम होता है। संपादक जी ने ग्रन्थ की अनार्ष बातों के समर्थन में कई जगह टिप्पणी या नोट भी लगाये हैं। तथा चर्चासागर का महत्व बतलाने के लिये उसके रचना काल में १०० वर्ष और भी बढ़ाकर उसे १८१० सं० का बना हुआ लिख दिया है।

## रचना काल में धोखा

चर्चा सागर के पृष्ठ ५३७ पर स्पष्ट लिखा गया है कि "संवत्सर विक्रम अर्कराज्य समयेतें दिग हरि चन्द्र छाज।" इसका सीधा साधा अर्थ यह है कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १९१० में बना है। कारण कि दिक् (दिशा१०) हरि (नारायण ९) चंद्र (चंद्रमा १) इनको "अंकानां वामतो गति:" अर्थात अंकों की गति बांई ओर से होती है। इस नियम के अनुसार १०९१ को उल्टा करने से १९१० बिलकुल ठीक हो जाता है। मगर संपादक जी ने इसमें चालाकी की है और लिखा है कि "दिशायें दश हैं, चंद्र एक को कहते हैं, इन सब को मिलाने से तथा 'अंकानां वामतो गतिः' अर्थात् अंकों की गति बांईं ओर से होती है, इस न्याय से १८१० है"।

यहा पर आप हरि का अर्थ साफ उड़ा गये हैं। न तो हरि का मतलब ९ किया और न आठ ! फिर न जाने केवल १० और १ को उल्टा करने से १८१० कैसे हो जाते हैं ! पण्डित जी

की यह चालाकी साफ़ पकड़ली गई है। कारण कि आप हरि शब्द छोड़ गए हैं जिसका अर्थ ९ होता है। इससे सिद्ध है कि चर्चासागर वि० सं० १९१० में बना था। किन्तु संपादक ने जो समाज को धोखे में डालने के लिये १८१० लिखा है वह बिलकुल असत्य है।

इसके अतिरिक्त सं० १८१० को असत्य सिद्ध करने वाला एक प्रमाण और भी है। चर्चासागर के पृष्ठ ४५७ पर लिखा है कि "संवत् १८२३ के साल में ऊपर लिखे हुये ढूंढिया मत में एक रघुनाथ नाम के साधु का शिष्य भीकम नाम का ढूंढिया साधु था। उसने गुरू से ईर्ष्या करके तेरह पंथ नाम का जुदा ही पंथ चलाया!" इत्यादि।

यहां पर विचार करने की बात यहहै कि यदि चर्चासागर संवत् १८१० में बना होता तो १८२३ में उत्पन्न होने वाले भीकम पंथ का वर्णन उसमें कैसे आसकता था? और वह भी भूत काल में प्रयोग किया गया है कि "१८२३ में भीकम नाम का ढूंढ़िया साधु था"। इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि चर्चासागर का रचना काल सं० १८१० कदापि नहीं हो सकता, किन्तु सं० १९१० है। इसके अतिरिक्त इन्हीं पांडे चंपालाल की गौतम परीक्षा भी सं० १९१६ की बनाई हुई कही जाती है। इससे भी चर्चासागर का रचना काल सं० १८१० नहीं कहा जासकता। खेद है कि महत्व और प्रमाणिकता के लोभ में संपादक ने संवत् बदल कर उसमें १०० वर्ष बढ़ा देने की चालाकी की है।

इसके अतिरिक्त पांडे चंपालालजी ने वसुनन्दि श्रावकाचार की भी टीका की है। उसके अन्त में पांडे जी ने लिखा है कि—

*सुषि पूरण नव एक पुनि, माधव पुनि शुभ श्वेत।*
*जया प्रथम कुजवारमम, मंगल होहु निकेत ॥*

इस दोहे में प्रथम जो 'सुपि' शब्द लिखा है वह अशुद्ध मालूम होता है। यहां पर सुपि के स्थान पर 'इपु' होना चाहिये। तब उसका स्पष्ट अर्थ यह हो जाता है कि इपु अर्थात् ५, पूरण अर्थात् ०, नव अर्थात् ९ और एक अर्थात् १ इस प्रकार ५०९१ संख्या को 'अङ्कानां वामतोगतिः' के नियमानुसार उल्टा करने से १९०५ संवत् सिद्ध होता है। यदि 'सुपि' शब्द की जगह शुद्ध पद इषु न माना जाय तो १ से लेकर ९ तक अन्य कोई भी अङ्क मानना ही होगा। इससे सिद्ध है कि वसुनन्दि श्रावकाचार की टीका पांडे चंपालाल ने १९०५ से १९०९ के बीच में वैशाख के शुक्ल पक्ष में की थी। इसी के बीच में चर्चासागर का लिखा जाना भी संभव है। इसलिये उसका रचनाकाल १८१० न होकर सं० १९१० भली भांति सिद्ध हो जाता है।

इस ग्रन्थ की रचना ईर्ष्या और द्वेष के वशीभूत होकर की गई है। इसमें तेरह पंथ की भांति समैया, ढूंढ़िया और श्वेताम्बरों की उत्पत्ति को जिन भद्दे असभ्य और नीच शब्दों में वर्णन किया है उनको पढ़कर पांडे जी के कलुषित हृदय का पता चल जाता है। इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों की भरमार की गई है, ताकि भोली जनता भ्रम में पड़ जावे। मगर हम आगे इस बातको सिद्ध करेंगे कि चर्चासागरमें दिये गये प्रमाणभूत अधिकतर ग्रन्थ भट्टारकीय दिमाग की कृतियां हैं। और उनमें इसी प्रकार का द्वेष, मिथ्यात्व और कूड़ा कचरा भरा पड़ा है। अनेक धूर्तों ने जिनागम के और जैनाचार्यों के नाम पर अपने मन की मुराद पूरी करने के लिये अनेक ग्रन्थ रचे हैं। उसके लिये आचार्यतुल्य पण्डित प्रवर टोडरमल जी ने कहा है कि—

"बहुरि केई पापी पुरुषा अपना कल्पित कथन किया है, अर तिनकौं जिनवचन ठहरावैं हैं। तिनकौं जैनमत का

शास्त्रजानि प्रमाण न करना। तहाँ भी प्रमाणादिक तैं परीक्षा करि या परस्पर शास्त्रनतैं विधि मिलाय वा ऐसैं संभवै कि नाहीं. ऐसा विचार करि विरुद्ध अर्थ को मिथ्या ही जानना।"

—मोक्षमार्ग प्रकाशक ३०७।

उक्त कथन परीक्षाप्रधानता का द्योतक है; मगर रूढ़िभक्त परीक्षा से डरते हैं। कारण कि उनका कल्पित और नकली धर्म परीक्षा की पवित्र जांच में टिक नहीं सकता है। पांडे चम्पालाल को भी इसी बात का भारी भय था, इसीलिये उन्होंने चर्चा-सागर में कई जगह लिखा है कि इन "शास्त्रों की बातों में संशय या सोच विचार नहीं करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह मिथ्यादृष्टि है"। इसी से पांडे जी की सत्यता और उनकी ग्रन्थ के प्रति शंकाशीलता का स्पष्ट पता चल जाता है।

चर्चासागर में अनेक बातें धर्म सिद्धान्त या जैनागम के विरुद्ध लिखी गई हैं, कितनी ही बातें मिथ्यात्व, अनाचार एवं अनर्थ की पोषक हैं, कितनी ही अतिशयोक्ति पूर्ण और कितनी ही पूर्वापर विरुद्ध हैं। अनेकों चर्चायें प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित हैं तथा कितनी ही मनः कल्पित एवं कुमार्ग पर ले जाने वाली हैं। इन सब बातों का स्पष्टीकरण इस पुस्तक में किया जायगा। जब चर्चासागर में ऐसी चर्चायें भरी पड़ी हैं तब 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यम्' आदि समन्तभद्र स्वामी द्वारा किया गया शास्त्र का लक्षण चर्चा सागर में कैसे लागू हो सकता है? और जब चर्चासागर शास्त्र नहीं है तब आचार्य शान्तिसागर जी महाराज इस ग्रन्थ का निषेध क्यों नहीं करते? तथा अपने संघ में या अन्यत्र इसका प्रचार बन्द क्यों नहीं कराते, सो कुछ समझ में नहीं आता! पूर्वाचार्यों ने तो विरुद्धागम के निषेधार्थ अनेक शास्त्रार्थ भी किये हैं, तब क्या उक्त महाराज इस ग्रन्थ का निषेध नहीं कर सकते? दुःख तो इस बात का है कि क्षुल्लक

कहे जाने वाले ज्ञानसागर जी ने उन सब पर अपना प्रभाव जमा रक्खा है और ऐसे आगम एवं लोकाचार विरोधी साहित्य का धड़ाधड़ प्रचार कर रहे हैं।

इस आगम विरोधी चर्चासागर को प्रकाशित कराने के लिये कितने छल और धोखे से काम लिया गया है, यह श्री० सेठ गंभीरमल जी पांड्या (फर्म सेठ चैनसुख गंभीरमल जी) कलकत्ता वालों के पत्र से स्पष्ट मालूम हो जायगा।

## पाण्डया जी का पत्र।

"जिस समय आचार्य शान्तिसागर महाराज का चातुर्मास कटनी में था उस समय हम भी संघ के दर्शनार्थ कटनी गये थे। वहां पर संघ में 'चर्चासागर' नामक ढूंढारी भाषा में लिखित ग्रन्थ का स्वाध्याय चल रहा था। हमने भी उसमें से अन्य मतों के निषेध का प्रकरण (जो उस समय चल रहा था) सुना। साथ में श्री ब्र० ज्ञानचन्द्र जी (वर्तमान में क्षुल्लक ज्ञानसागर जी) तथा क्षुल्लक चन्द्रसागरजी (वर्तमान में मुनि चन्द्रसागर जी) ने फ़र्माया कि यह ग्रन्थ महान उपयोगी है! यदि कोई भाई इसे छपवा कर प्रचार में लावें तो मुमुक्षुजनों का विशेष उपकार हो सकता है! हमने भी उक्त ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा एवं श्री० चन्द्रसागर जी महाराज के उपदेश से इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ ५००) की सहायता देने को कहा तथा उसी समय श्रीमान् बख्तावर मल जी पाटनी और एक कटनी के भाई ने भी १००), १००) की सहायता देने को कहा। इसके सिवाय हमने इस ग्रन्थ के लिये करीबन २५०) और भी दिये। बाद जब हम कलकत्ते आगये तब ब्र० ज्ञानचन्द जी ने इस ग्रन्थ को ढूंढारी भाषा से हिन्दी में उल्था करने के लिये पं० लालाराम जी शास्त्री (अपने सगे भाई) के पास भेजा। उनके द्वारा हिन्दी हो जाने

पर कलकत्ते की जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था से ही इसका प्रकाशन हुआ। प्रकाशित करने के समय प्रकाशक महोदय ने इसके कुछ आक्षेप्य भाग का हमें संकेत किया तो हमने फ़ौरन उस भाग को ग्रन्थ से हटा देने की अनुमति दे दी। इसीलिये कुछ ग्रन्थ अप्रकाशित भी रक्खा गया है।"

"फिर भी प्रकाशन के अनन्तर कलकत्ते के कुछ भाइयों ने हमसे अनेक प्रकार की शङ्कायें इसके विषय में कीं, तो हमने उनसे कहा कि आप लोग इन शङ्काओं का निवारण निष्पक्ष विद्वानों से करावें तो हम भी उसे मान लेंगे। साथ में ग्रन्थ का प्रचार भी बन्द कर देंगे।"

"इस ग्रन्थ की कुल १००० प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जिसमें ५०० प्रतियां सेठ हंसराजजी महदूरामजी लुहाड्या मु० मादवड़ (नादगांव) नाशिक वालों के पास चली गई हैं। और २५० प्रतियाँ ब्र० ज्ञानचंद्रजी ने प्रचारार्थ बंटवादी हैं। शेष हमारे हिस्से की २५० प्रतियों में से कुछ तो हमारे पास मौजूद हैं, शेष अभी जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था के ही पास हैं। अभी तक जो प्रतिया इस ग्रन्थ की प्रचार में आकर लोगों के पास पहुँची हैं उनमें हमारा हाथ नहीं हैं, न हम उसके ज़िम्मेदार ही हैं।" अस्तु,

"इसके बाद जब हम कलकत्ते से यहां (कुचामन) आये तो यहां भी ग्रन्थ के विषय में अनेक प्रकार की शङ्कायें सुनीं। सुनकर हमने उसी समय क्षुल्लक ज्ञानसागर जी के पास कुछ शङ्कायें लिखकर भेजीं, और उत्तर की मांग की। पर कहना होगा कि उक्त क्षुल्लकजी ने संतोषजनक उत्तर नहीं दिया! इस प्रकार इसका प्रकाशन सम्बन्धी इतिहास हम समाज के सम्मुख रखते हैं। अब समाज के प्रति इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि ग्रन्थ का प्रकाशन-साहाय्य हमने सद्भावनाओं

से ही किया है। न तो हमने इसका स्वाध्याय ही किया था, और न किसी विद्वान के सुपुर्द ही यह काम किया था। किन्तु श्री क्षुल्लक ज्ञानसागर जी की प्रेरणा एवं पं० लालाराम जी शास्त्री के द्वारा इसका हिन्दी वल्था जानकर ही विश्वास के बलपर इसके प्रकाशनार्थ सहायता दी थी!"

"ऐसी अवस्था में जबकि हमको ऐसे आक्षेप्य विषयों का ज़रा भी संकेत न हुआ था ( हमारे जानने पर तो ऐसी नौबत ही नहीं पहुँचती ) तब हमें इसके आगम विरुद्ध विषयों का पक्षपाती समझना अन्याय होगा। हम समाज को अब भी स्पष्ट घोषित कर देना चाहते हैं कि हम मूलसंघानुयायी कट्टर तेरह पंथी हैं। मूलसंघाम्नाय के विरुद्ध सब बातों को अप्रमाण करार देते हैं। हम इस विषय में ग्रन्थ के कतई पक्षपाती नहीं हैं। अतः जिन धार्मिक सज्जनों को इस ग्रन्थ से हार्दिक चोट लगी हो वे महानुभाव धैर्य के साथ इस ग्रन्थ को निष्पक्ष विद्वानों से जंचवाकर हमें इसके लिये कर्तव्यमार्ग लिखें। हम उन्हीं की सम्मति के अनुकूल कार्रवाई कर समाज का आदेश पालन करेंगे।" इत्यादि।

सेठ जी के उक्त पत्र को पढ़ने से पाठक समझ जावेंगे कि ब्रह्मचारी वेषियों के द्वारा आपको धोखा दिया गया है, और इधर उधर के कुछ अच्छे प्रकरण सुनाकर आपको ठगा गया है। तथा यह ग्रन्थ महान् उपयोगी और उपकारक बतलाया गया था। उपकारक तो यह वास्तव में निकला (?) कारण कि क्षुल्लक जी के भाई पं० लालारामजी को ३००) संपादन में मिल गये, और संस्था को भी लाभ कराया गया। वह लाभ भी क्षुल्लकजी के यारदोस्तों को ही मिलेगा। अस्तुः, चर्चासागर में तो छापा गया है कि सेठ गंभीरमल जी ने ५००)

दिये हैं, मगर आपके पत्र से मालूम होता है कि आपके ८५०) का पानी करवाया गया है। तथा आपके ही द्रव्य से आपके ही गुरुत्साय पर कीचड़ उछाला गया है। सेठजी ने जो क्षुल्लकजी पर शंकायें भेजीं उसे भी वे साफ़ उड़ा गये। धोखे से काम निकाल कर फिर बात भी न करना, क्या यह क्षुल्लक पद को शोभा देता है? मालूम होता है कि चर्चासागर में से कुछ आक्षेप अंश निकाल दिया गया है। न जाने उसमें क्या २ कूड़ा कचरा भरा होगा। कारण कि शुद्ध करने पर भी तो इतना गोबर और अनाचार इसमें मिलता है। पत्र में १००० प्रतियों की पूरी विगत बतलाई गई है। फिर समझ में नहीं आता कि जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था ने ५) के हिसाब से अनेक चर्चासागर कहां से बेचे हैं? इस तरह से भी कुछ उपकार कर लिया गया मालूम होता है। क्षुल्लक जी ने चर्चासागर का खूब प्रचार किया है। और इतना खंडन मंडन होने पर भी आपकी गोबरभक्ति कम मालूम नहीं होती। पं० लालारामजी ने चर्चासागर को ढूंढारी भाषा से हिन्दी में लिखा है और कई जगह फुटनोट लगाये हैं। मगर आपने शंका या भय के कारण अपना नाम प्रगट नहीं किया है। यह नैतिक कमज़ोरी और समाज के साथ धोका देना है। इस प्रकार चर्चासागर का उसकी रचना से लेकर प्रचार तक छलछुद्रम और धोखेबाज़ीमय इतिहास है।

## चर्चासागर ग्रन्थ पर शास्त्रीय प्रमाण!

इस चर्चासागर में एक दो नहीं, किन्तु अधिकांश चर्चायें आगम-विरोधी और मिथ्यात्व-वर्द्धक हैं। इन पर पत्रों द्वारा खूब चर्चा हो चुकी है। न्यायालंकार पं० मक्खनलाल जी ने तो चर्चासागर के समर्थन में 'चर्चासागर ग्रन्थ पर शास्त्रीय

प्रमाण' नामक १६८ पृष्ठ का एक ट्रैक्ट लिखकर उसे जैनागम या सर्वज्ञवाणी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसका सप्रमाण खण्डन जैनमित्र वर्ष ३२ के अङ्क ५ से ९ तक में किया गया है। किन्तु इस समीक्षा ग्रन्थ में चर्चासागर की समीक्षा के साथ पण्डित जी के ट्रैक्ट का तथा अन्य समर्थकों का भी यथायोग्य उत्तर दिया गया है। वैसे तो चर्चासागर के समर्थक २-४ कहे जाने वाले पण्डित महाशयों के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं और न किसी ने समर्थन में लेख या उत्तर प्रत्यु-त्तर लिखने का ही साहस किया है, फिर भी पं० मक्खन लालजी के ट्रैक्ट के उत्तर दिये जाने से बाकी सभी समर्थकों की युक्तियों का निरसन होजाता है। इसलिये 'शास्त्रीय प्रमाण' नामक ट्रैक्ट की छलपूर्ण युक्तियों के निरसन पर इसमें विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही चर्चासागर की अन्य अधार्मिक बातों का यथायोग्य खण्डन किया गया है।

पं० मक्खन लाल जी ने जो ट्रैक्ट लिखा है उसमें चर्चा सागर की १२ चर्चाओं का ही समर्थन किया है। वे इस प्रकार हैं— १ दिगम्बर मुनियों को जिनमंदिरों, मकानों, धर्मशाला, पाठशाला या बगीचोंमें रहना चाहिये! २. गाय का गोबर बहुत ही शुद्ध एवम् मांगलीक द्रव्य है! इससे जिनेन्द्र भगवान की आरती करनी चाहिये। ३ कीमती मालाओं के जपने से पुण्य अधिक होगा। ४ हरे पीले लाल सफ़ेद आसनों पर बैठ कर ध्यान पूजन जपादि करने से भिन्न २ फल मिलता है। ५. शूद्र के दर्शन या शब्द श्रवण हो जाने पर जप छोड़ देना चाहिये और उसी समय आचमन तथा प्राणायाम करके शुद्ध होना चाहिये। ६. पूजा स्नान दातुन आदि अमुक दिशा की ओर मुख करके ही करना चाहिये। ७. पितृतर्पण और श्राद्ध करना श्रावकों का धर्म है। ८. मांसाहारी देवों की सिद्धि। ९. गौदान, सुवर्णदान,

भूमिदान करना पुण्य का कारण है। १०. मुनिराज संभोगादि करने पर भी मात्र कुछ उपवास से शुद्ध हो जाते हैं। ११. शुद्ध स्त्री द्वारा १० वार छुये जाने पर रजस्वला स्त्री विना स्नान किये ही शुद्ध हो जाती है। १२. शास्त्र सभा में वातें करने वाले आदमी को देख कर तमाम श्रोताजनों को सवस्त्र स्नान करना चाहिये।

पण्डित जी ने अपने ट्रैक्ट के प्रारंभ में ही निष्पक्षता की दुहाई देते हुये लिखा है कि "हम लोग आर्ष वचनों पर श्रद्धा रखने वाले हैं और आर्ष विरुद्ध वचन के पोषण में पाप समझते हैं।" किन्तु पंडित जी के आर्षवचन त्रिवर्णाचार आदि ऐसे भ्रष्ट ग्रन्थ हैं जिनमें योनि पूजा और योनिप्रक्षालका पवित्र मंत्रों सहित विधान है, जिनमें पीपल पूजा, भैरों भवानी, चण्डी, मुण्डी, और अन्य देवी देवताओं की भी मान्यता तथा पाखण्डों का प्रतिपालन किया गया है। तव फिर पण्डितजी के इन आर्ष वचनों के लिये क्या किया जाय ?

पण्डित जी ने अपने ट्रैक्ट की भूमिका ही इस ढङ्ग से लिखी है कि साधारण जनता साफ धोखे में आजाय! आपने चर्चासागर के विरोधियों को मुनि-निन्दक, सुधारकवादी, विधवा विवाह और छुआछूत लोपका प्रचार करने वाले, दुराग्रही आदि न जाने क्या २ लिख डाला है। मगर जव हम आगे चल कर चर्चासागर के विरुद्ध अनेक उद्भट विद्वानों की सम्मतियां वतलावेंगे तव पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि वास्तव में वात क्या है ? पण्डित जी ने वर्तमान के न्यायतीर्थ विद्वानों को शिक्षा देते हुये उन्हें मूर्ख, अनुभवहीन और सिद्धान्त ज्ञान विहीन वत-लाने का प्रयत्न किया है। इसका कारण यह है कि वर्तमान में जो न्यायतीर्थ या अन्य विद्वान तैयार होते हैं वे प्रायः सभी युक्ति और आगम के पक्षपाती तथा सत्य के समर्थक होते

हैं। वे गोवर-कूड़े के विधानों को आगम नहीं मानते हैं और न आँखें वन्द करके 'सत्य वचन महाराज' की ही पुकार लगाते हैं। इसी लिये पण्डित जी को आधुनिक विद्वान खटकते हैं।

पण्डित जी का लिखना है कि "चर्चासागर ग्रन्थ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ या श्री पं० चम्पालाल जी की कृति (रचना) नहीं है, किन्तु चर्चासागर एक संग्रह ग्रन्थ है।"। यदि यह वात सत्य है तो ग्रन्थ के प्रारंभ में और मङ्गलाचरण में 'पं० चंपालालेन विरचितं' ऐसा क्यों लिखा गया! 'संग्रहीतं' क्यों नहीं लिखा? पाँडे चम्पालाल ने तो इसमें अपने पेट का वहुत कुछ विष उगला है! इसके अनिरिक्त आपने चर्चासागर में दिये गये खास खास २२ आचार्यों और ४१ ग्रन्थों के नाम भी प्रगट किये हैं जिनके आधार पर चर्चासागर लिखा गया है। मगर यह भी एक छल है। कारण कि चर्चासागर में वहुभाग त्रिवर्णाचार के आधार पर लिखा गया है किन्तु पण्डित जी ने न तो उसका नामोल्लेख किया है और न भट्टारक सोमसेन का ही नाम लिखा है। कारण कि यह शिथिलाचार और अनाचार का पोपक सिद्ध हो चुका है। इसके अतिरिक्त पण्डित जी ने ट्रैक्ट में मात्र ४१ मान्य कहे जाने वाले ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है जवकि चर्चासागर में १९१ मान्य अमान्य ग्रन्थों का आधार लिया गया है। चर्चासागर के साथ ही न्यायालंकार जी के शास्त्रीय प्रमाणों की भी समीक्षा हो जायगी। तव आपकी शास्त्रीयता का पूरा पता लग जायगा।

पांडे चम्पालाल जी ने पृ० ४ पर शास्त्र का लक्षण किया है कि "जिसकी आज्ञा को सब लोग मानें उसको शास्त्र कहते हैं।" यह विचित्र परिभाषा तो आजही सुनी है। यदि शास्त्र का यह लक्षण भी माना जावे तव तो चर्चासागर को शास्त्र नहीं मानना चाहिये। कारण कि इसकी आज्ञा को मानने के लिये

कोई भी विद्वान या साधारण जनता तैयार नहीं है। यहाँ तक कि चर्चासागर के परमभक्त पं० मक्खनलाल जी भी गोवर से आरती-पूजा करने के लिये स्वयं तैयार नहीं होंगे। तब पांडेजी की ही परिभाषा से उनका चर्चासागर अशास्त्र सिद्ध होता है।

अब आगे पांडे जी की अशास्त्रीय चर्चाओं का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

## सुदर्शन मेरु का कंपित होना।

चर्चा नं० २ पृष्ठ ५—"श्री महावीर स्वामी ने जन्म कल्याणक के समय अभिषेक के लिये पांडुक शिलापर विराजमान होते हुये इन्द्रका सन्देह दूर करने के लिये अपने पैर का अंगूठा दबा कर सुदर्शन मेरु को कंपायमान किया।" इस श्वेताम्बरीय मान्यता को स्वीकार करते हुये पांडे चम्पालाल जी लिखते हैं कि "दिगम्बर मत में काष्ठा संघ संप्रदाय में भी इसी प्रकार कहा है!" मगर यह मान्यता कहां तक ठीक कही जाकती है? कारण कि जन्म के दश अतिशयों में से होने वाले तीर्थङ्करके अतुलबल में इन्द्र जैसे अवधिज्ञानी को शंका होना कैसे संभव है? यदि मान लिया जाय कि इन्द्र के मन में शंका हुई हो तो उसे महावीर स्वामी ने कैसे जान लिया? कारण कि उनको उस समय मनःपर्य्यज्ञान तो था ही नहीं!' हाँ, अवधिज्ञान अवश्य था। किन्तु उसका विषय मन की बात को जानना नहीं है। इसलिये यह चर्चा ठीक नहीं कही जा सकती।

## तीर्थङ्करों की दाढ़ी मूछ।

चर्चा ५ पृ० ७—में लिखा है कि 'तीर्थङ्कर भगवान के दाढ़ी मूछ होते ही नहीं हैं और प्रमाणमें एक गाथा रखी है तथा इसी चर्चा में लिखा है कि तीर्थङ्करादि कभी वाल नहीं

वनवाते, क्योंकि वे इतने वढ़ते ही नहीं हैं। उनके वाल १६ वर्ष के युवक के समान रहते हैं।' मगर यह वात ठीक नहीं है। कारण कि वालों का न वढ़ना यह तो केवलज्ञान का अतिशय है। इसलिये केवलज्ञान होने पर यदि वाल नहीं वढ़ते हैं तव तो माना जा सकता है किन्तु प्रारंभ से ही नहीं वढ़ते या नहीं होते यह कैसे माना जाय? भगवान ऋषभदेव के तपस्या समय में जटा वढ़ने का उल्लेख शास्त्रों में पाया जाता है। दूसरे वात यह है कि केवलज्ञान होने पर वालों का न वढ़ना तो सामान्य केवली भगवान् के लिए भी है, यह नियम मात्र तीर्थङ्करों के लिये ही नहीं है। इस प्रकार यह चर्चा भी अविचारित मालूम होती है।

## सामान्य केवली को नमस्कार।

चर्चा १५ पृ० १५—में प्रश्न किया है कि 'सामान्य केवली को किस प्रकार नमस्कार करना चाहिये?' इसके समाधान में लिखा है कि 'सामान्य केवली के लिये इन्द्र पंचांग नमस्कार करते हैं।' यहां पर प्रश्न तो सामान्य नमस्कार का था मगर उत्तर में इन्द्र का पंचांग नमस्कार वतलाया गया है! इसका मतलव तो यही हुआ कि सभी लोग सामान्य केवली को पंचांग नमस्कार करें। मगर यह वात ठीक नहीं है। कारण कि अनेक शास्त्रों में अष्टांग नमस्कार का विधान है। जैसे पद्मपुराण में ७९ वें पर्व में अनन्तवीर्य मुनि को केवलज्ञान के समय इन्द्रजीत, मेघनाद और कुंभकर्णादि ने अष्टांग नमस्कार किया था। दूसरे वात यह है कि यहां पर सामान्य केवली का प्रश्न क्यों उठाया गया है? नमस्कार तो सामान्य अथवा तीर्थङ्कर केवली दोनों को समान ही होता है! फिर न जाने इस शास्त्र-विरुद्ध चर्चा का क्या मतलव है।

हमें हस्त लिखित चर्चासागर पीछे से देखने को मिला है। उससे मालूम होता है कि यह भाषान्तरकार पं० लालाराम जी की ही करामात है। कारण कि उसमें प्रश्न इस प्रकार किया गया है कि "सामान्य केवली कूं इन्द्र नमस्कार कैसे करें?" पं० जी ने इन्द्र शब्द छोड़ दिया है।

## सामान्य केवली के गणधर।

चर्चा १६ पृष्ठ १५—में लिखा है कि सामान्य केवली के भी गणधर होते हैं। इसकी पुष्टि मे सुदर्शन चरित्र के आठवें परिच्छेद का एक श्लोक दिया है कि—

*दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्ग वृत्तये।*
*धर्मतत्वादिविश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ॥ ७७ ॥*

इसका अर्थ टिप्पणी में सम्पादक पं० लालाराम जी शास्त्री ने इस प्रकार किया है कि 'भगवान सुदर्शन केवली ने मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिये गणधरों के प्रति दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म तथा समस्त तत्वों का स्वरूप बतलाया।' किन्तु पण्डित जी और पांडे जी दोनों ने इसके अर्थ में सैद्धान्तिक भूल की है। कारण कि यहां पर 'गणान्' का अर्थ गणधर नहीं, किन्तु समूह है। क्योंकि सामान्य केवली के गणधर होते ही नहीं हैं। यदि होते हों तो कहिये कि सुदर्शन स्वामी, भ० रामचन्द्र, देशभूषण कुलभूषण, अनन्तवीर्य और जम्बूस्वामी आदि सामान्य केवलियों के कितने और कौन २ से गणधर थे? सच बात तो यह है कि गणान्प्रति का अर्थ गणधरान्प्रति कर डाला है, जो कि आगम-विरुद्ध है।

पांडे चम्पालाल जी ने पृष्ठ १६ पर एक और युक्ति लिखी है कि 'बिना गणधर के दिव्यध्वनि नहीं खिरती है।' मगर यह

नियम सामान्य केवली के लिये नहीं है। यहा तक कि भगवान ऋषभनाथ तीर्थङ्करकी भी दिव्यध्वनि सबसे पहिले बिना गणधर के ही खिरी थी ! तब पांडे जी की चर्चा और सम्पादक जी की टिप्पणी कहां तक संगत हो सकती है ?

## मुनियों का निवास स्थान ।

चर्चा १६ पृष्ठ १७—प्रश्न—इस पंचम काल के इस वर्तमान समय में होने वाले मुनिराज किस क्षेत्र में ठहरें ?

समाधान—इस पंचम काल में वर्तमान समय में होने वाले मुनियों की स्थिति श्री जिन मन्दिर जी में बतलाई है। यह बात श्री पद्मनन्दि पंच विंशतिका के छटे अधिकार में लिखी है। यथा—

*सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे (!) मुनिस्थितिः ।*
*धर्मस्य (!)दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥६॥*

इस श्लोक का पांडेजी ने यह अनर्थ किया है कि 'इस वर्तमान समय में श्रावक ही धर्म सुनने के योग्य हैं । इसलिये मुनिराजों की स्थिति जिनालय में होने से ही श्रावक को लाभ पहुँच सकता है।'। इसी श्लोक के नीचे संपादक जी ने भी अपनी विद्वत्तापूर्ण (!) एक टिप्पणी ठोक दी है कि "कलिकाल में मुनियों की स्थिति जिनालय में ही है। आज कल बहुत से लोग मुनियों के जिनालय में निवास करने पर नुक्ताचीनी करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। जब शास्त्रों में स्पष्ट आज्ञा है, तब शंका करना व्यर्थ है।"। इसी बात की पुष्टिमें एक श्लोक इन्द्रनन्दि के नीतिसार का दिया है—

*काले कलौ वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः ।*
*स्थीयेतच जिनागार ग्रामादिषु विशेषतः ॥१६॥*

मगर यह श्लोक इन्द्रनन्दि नीतिसार में है ही नहीं ! भला सोचिये तो कि दिगम्बर मुनियों के लिये वनवास का निषेध कौन बुद्धिमान कर सकता है ? मन्दिर या ग्राम में रहना एक बात है और वनोवास का साफ़ निषेध कर देना दूसरी बात है। यहां पर तो स्पष्ट वनवास का वर्जन किया गया है ! जो कि स्वार्थसिद्धि के लिये एक बनावट मालूम पड़ता है। पंचम काल मे मुनियों के वनवास निषेध की क्या आवश्यक्ता थी ? क्या मुनियों को वनमें रहने से पाप लगेगा और जिन मन्दिर तथा ग्रामादिक में रहने से विशेष ध्यान कर सकेंगे ? खेद है कि स्वार्थसिद्धि के लियं एक कल्पित श्लोक का यथेच्छ अर्थ कर डाला गया है। अस्तु, सबसे अधिक चर्चा तो पद्मनन्दि पंचविंशतिका के 'सम्प्रत्यत्र कलौकाले' इस श्लोक पर हुई है। इस विषय में पाठकों को गंभीरता से विचार करना चाहिये। वास्तव में तो पद्मनन्दि के उक्त श्लोक और उसके अर्थ में बहुत कुछ फेरफार किया गया मालूम होता है। यदि उसको वैसा ही मान लिया जाय जिस प्रकार चर्चासागर में लिखा है तो भी उसका अर्थ ही ठीक नहीं वैठ सकता। कारण कि उसका हूबहू अर्थ यह होगा कि 'इस कलिकाल में जिन मन्दिर में मुनियों की स्थिति और धर्म का दान जिन मन्दिर में है, क्योंकि इत्येषां (!) इनके मूलकारण गृहस्थ हैं'। ऐसा अर्थ कितना असंगत मालूम होता है ? कारण कि न तो इसका पुर्वा पर कोई सम्बन्ध ही बैठता है और न 'इत्येषां' इस बहुवचन पदकी ही सार्थकता मालूम पड़ती है। कारण कि 'जिन मन्दिर में स्थिति और धर्म का दान' यह दो बातें ही यहा पर हैं। तब 'इत्यनयोः' इस प्रकार का द्विवचन का ही विभक्ति प्रयोग होना चाहिये था, किन्तु यहा पर बहुवचन का प्रयोग किया है। इस प्रकार की मामूलीसी भूल आचार्य पद्मनन्दि से

कभी नहीं हो सकती थी। यह तो पांडे चंपालाल या उनके भक्तों की करामात है।

इस भूल को पलटने के लिये पण्डित मक्खनलाल जी आदि धर्मस्य की जगह धर्मश्च मानते हैं। तब 'जिन मन्दिर में मुनिस्थिति, धर्म और दान इन तीनों बातोंके गृहस्थ मूल कारण हैं' ऐसा अर्थ करने से 'इत्येषा' यह बहु वचन पद सार्थक बनजायगा। किन्तु यह समाज को सरासर धोखा देना है। कारण कि वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। क्योंकि 'जिनगेहो' की जगह 'जिनगेहे' करके यह मतलब सिद्ध किया है। दूसरे पण्डित जी के श्लोक परिवर्तन से उनके आचार्य (!) पांडे चंपालाल जी की अज्ञानता प्रगट हो जाती है। कारण कि उनने 'धर्मश्चदानं' ऐसा पद देकर गड़बड़ अर्थ कर डाला है। वास्तव में तो मूल श्लोक इस प्रकार है कि—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहो मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषा गृहस्था मूलकारणम् ॥६॥

अर्थात्—इस कलिकाल में जिनमन्दिर का बनवाना, आहारादि देकर मुनियों की स्थिति रखना, और धर्म तथा दान के मूल कारण गृहस्थ हैं।

यही श्लोक और उसका अर्थ प्रकरण के अनुसार संगत भी है। कारण कि यह प्रकरण ही श्रावक धर्म का निरूपण करने वाला है। इसके आगे का श्लोक 'देवपूजा गुरूपास्ति' आदि है। इसी से सिद्ध है कि मुनियों का प्रकरण न होते हुये भी 'मुनियों की स्थिति मन्दिर में होना चाहिये' यह मुनि संबंधी बात कैसे रखी जा सकती थी? इसलिये श्लोक में फेर फार करके भी मन्तव्य की पुष्टि नहीं हो सकती है।

किन्हीं विद्वानों का कहना है कि 'जिनगेहे' ऐसा सप्तमी

पद का प्रयोग है तब तो स्पष्ट मतलब यही होता है कि मुनि मन्दिर में रहते हैं। किन्तु वास्तव में यह सप्तमी विभक्ति का प्रयोग बदल कर रखा गया है। कारण कि जैन बोधक के अङ्क १-२ में चर्चासागर भक्त पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने पृष्ठ ११ पर स्वयं स्वीकार किया है कि "श्रीचंद्रप्रभु दि० जैन मन्दिर की एक प्रति ( पद्म० हस्त लिखित ) में 'जिनगेहा' यही पद है और तदनुसार ही अर्थ किया गया है।" किन्तु कुछ लोगों ने हस्तलिखित प्रतियों मे 'जिनगेहे' भी बताया है। परन्तु प्रकरण, सम्बन्ध और अन्य शास्त्रों की दृष्टि से यह भूल या बनावट मालूम पड़ती है। जहां पर स्वार्थियों ने श्लोक के श्लोक पलट कर रख दिये हैं वहां इतनीसी बात का परिवर्तन कर देना कोई आश्चर्य का काम नहीं है।

विद्यावारिधि, वादीभकेसरी, न्यायालङ्कार आदि अनेकानेक पदवियों से युक्त पं० मक्खनलाल जी ने मुनियों को नगर में रहना सिद्ध करने के लिये अपने ट्रैक्ट के ३६ पृष्ठ भरे हैं! और मुनियों पर दया खाते हुये आप पृष्ठ २६ पर लिखते हैं कि "हम लोग तो कार्तिक शुरू होते ही ढाई तीन सेर की सौड़ ओढ़े विना और उसे ओढ़ कर भी भीतर बन्द कमरों में नीचे उतनी ही रुई का गद्दा बिछाकर सोते हैं! यही शरीर तो वर्तमान में मुनियों का है। फिर उसी शरीर से मुनि पहाड़ों और नदियों के किनारे ठहर कर किस प्रकार शरीर की रक्षा कर सकते हैं?" इत्यादि।

धन्य है! इन दयालु शास्त्री जी को धन्य है! मुनियों के प्रति कैसी बढ़िया सहानुभूति है? और गृहस्थों के साथ समानता भी खूब मिलाई है। पहिले कुछ स्वार्थी भट्टारक मुनियों के नगरनिवास के विषय में जिस प्रकार संस्कृत श्लोक रच गये हैं उसी प्रकार विद्यावारिधि जी को चाहिये कि वे भी

मुनियों का मन्दिर में रहना सिद्ध किया है। मैं तो कहता हूँ कि इतने प्रमाण संग्रह की क्या आवश्यकता थी?

यदि आप पक्षपात छोड़कर विचार करें तो सत्य दृष्टिगोचर होने लगेगा। मुनिराज मंदिरों में या ऐसे ही अन्य स्थानों में कायमी निवास नहीं कर सकते। कारण कि वह उनके ध्यान, मूलगुण एवं व्रतादि में बाधक हो सकते हैं। इसी लिये तो ऐसे स्थानों पर ठहरने का शास्त्रों में निषेध भी किया गया है। और एकान्त स्थानों में ठहरने का विधान किया गया है। यथा—

अकृत्तिमाः गिरिगुहांतरकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासाः अनात्मोद्देशनिवर्तिताः निरारंभाः सेव्याः। —श्लोकवार्तिक अ० ९ पृ० ४८९।

इन पंक्तियों से मालूम होता है कि मुनियों को पर्वतों की अकृत्रिम गुफाओं या कोटरों में रहना चाहिये। अथवा ऐसे ऊजड़ मकानों में रहना चाहिये जिन्हें लोग छोड़ छाड़कर चले गये हों, जो बिलकुल शून्य हों और मुनि के निमित्त से जिनका निर्माण न हुआ हो तथा आरंभ और आडंबर से रहित हों। इत्यादि!

अब तनिक जिन मंदिर की स्थिति पर विचार करिये। वहां निरंतर स्त्री पुरुषों का आना जाना रहता है। सवेरे पूजा पाठ, स्वाध्याय, नृत्यगान और भजन होते हैं। शाम को शास्त्र सभा, दर्शन, आरती और गाना बजाना होता है। क्या इसे शून्यागार कह सकते हैं? क्या ऐसे स्थान पर मुनियों का निराबाध ध्यान हो सकता है? और क्या ऐसे स्थान पर ठहरना मुनिराज के लिये दोष का कारण नहीं है? तनिक निष्पक्ष होकर विचार करिये। श्लोकवार्तिककार श्रीमद्विद्यानंदि स्वामी ने इसी बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि—

"संयतेन ···गीतनृत्यवादित्राकुलशालादयः परिहर्तव्याः ।"

—श्लोकवा० अ० ९ पृ० ४८९ ।

अर्थात्—मुनि को गाने बजाने और नृत्यादि से आकुल स्थान का परित्याग कर देना चाहिये । तब पण्डितजी साहब ! आप ही बतलाइये कि मन्दिरों में भजन पूजन बन्द करा दिया जाय या ऐसे स्थान पर मुनियों को ही नहीं ठहरना चाहिये ? दो में से एक कुछ हो सकता है । निर्जन स्थानसे, गुहागेहादि में निवास करने के लिये तथा छोड़े हुये एकात स्थान पर ही निवास करने का और भी अनेक जगह विधान है । यथा—

"शून्यं–निर्जनं गुहागेहादि । उत अथवा विमोचितं परचक्रादिनोद्वासितं पदमावसेत् ।"

—अनगारधर्मामृत श्लो० ५६ पृ० २२७ ।

इतने पर भी पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ-३२ पर लिखा है कि मुनिगण पाठशाला विद्यालयों धर्मशालाओं वगैरह में ठहर सक्ते हैं ! ऐसा कराते हुये भी आप अनगारधर्मामृत के ऊपरके वाक्य का पालन भी करा सक्ते हैं । कारण कि विद्यालय के विद्यार्थियों को उतने दिन तक छुट्टी दी जा सक्ती है और पढ़ना पढ़ाना बन्द कराया जा सक्ता है ! इसलिये विद्यालय तुरंत ही निर्जन बन जायगा ! तथा सुपरिण्टेण्डेण्ट के चक्रसे या हुकुम से विद्यालय या बोर्डिंग मिनिटों में खाली भी कराये जा सकते हैं ! इसलिये विमोचित या परचक्र से उद्वासित स्थान होजायगा ! तब तो दोष लगेगा ही नहीं और आनन्द से मुनिसंघ विद्यालयों मे ठहराया जा सकेगा !

रही विद्यार्थियों के पढ़ने में नुक्सान होने की बात, सो मुनिभक्ति के सामने यह कौनसी बड़ी बात है ! पं० मक्खनलाल जी भी तो वर्ष में कई दिनों तक विद्यालय छोड़कर आचार्य संघ

के साथ विहार करते हैं, और उधर सवासौ डेढ़सौका वेतन चालू ही रहता है। तब फिर क्यों न मौज की जाय ? विद्यार्थियों को छुट्टी मिलने से वे भी तो खुश होंगे ! अस्तु—

वड़े दुःखका विषय है कि पंडित जी ने मुनियों को मंदिरों मकानों और धर्मशाला तथा पाठशालाओं में ठहराने के लिये ३५ पृष्ठ भर डाले हैं ! मगर इसके भयंकर परिणाम पर और शिथिलाचार के बढ़ने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यदि आप पूर्व इतिहास को देखेंगे तो मालूम होगा कि इसी प्रकार ग्रामों में निवास करने लगने से शिथिलाचार वढ़ गया और धीरे २ वे ही मुनिराज वस्त्रधारी भट्टारक बन गये थे ! मुनियों का नगर में रहना तो क्या नगर के पास में रहने पर भी भगवद् गुणभद्राचार्यने खेद प्रगट किया है। यथा—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः !
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९९ ॥

—आत्मानुशासन।

अर्थात्—जिसप्रकार मृगगण भयभीत होकर रात्रि में जङ्गल से भागकर गांवके पास आजाते हैं उसी प्रकार कलिकाल में मुनिगण भी वनको छोड़कर गांवके पास वसते हैं, यह घोर दुःख की वात है !

चर्चासागर के पृष्ठ १७ पर श्री इन्द्रनन्दि के नीतिसार का एक श्लोक देकर मुनियों के वनोवास का निषेध किया है। तथा पण्डित मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ३० पर एक श्लोक दिया है और उसे आचार्य शिवकोटि का मान कर फूले नहीं समाये हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—

कलौ काले वनेवासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः ।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥२॥

अर्थात्—इस कलिकाल में मुनिराजों को वनमें निवास करने की महामुनियों ने मुमानियत की है। इसलिये इस समय उन्हें जिनमन्दिर में और ख़ास करके ग्रामादिक में रहना चाहिये।

इस श्लोक में आचार्य शिवकोटि स्वयं ही मुनियों के वनोवास का निषेध नहीं कर रहे हैं मगर पूर्व महामुनियों द्वारा निषेध किया गया है ऐसा कहकर उसका समर्थन कर रहे हैं। मगर मैं पूछता हूँ कि इसके पहिले और किन महामुनियों ने किस शास्त्र में मुनियों के वनोवास का निषेध किया है? इसका कोई भी उत्तर नहीं है। सच बात तो यह है कि उक्त श्लोक भगवती आराधना के कर्ता आचार्य शिवकोटि का नहीं है। कारण कि ऐसे मान्य ऋषिवर इस प्रकार की शिथिलाचारी जघन्य आज्ञा कभी भी नहीं दे सकते थे। मुनियों के मन्दिर में रहने का विधान करना एक बात है और वन में रहने का निषेध कर देना दूसरी बात है। यह द्वितीय आज्ञा तो अत्यन्त जघन्यतम कोटि की है, जो कि एक दिगम्बराचार्य कभी भी नहीं दे सकते हैं।

उक्त श्लोक जिस रत्नमाला से उद्धृत किया गया है वह भगवती आराधना के कर्त्ता आचार्य शिवकोटि की है ही नहीं। इसके लिये जैन इतिहास वेत्ता श्री० पं० नाथूराम जी प्रेमी की 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' की भूमिका में आचार्य श्री शिवकोटि का परिचय देखना चाहिये। आप लिखते हैं कि "अभी तक भगवती आराधना को छोड़कर शिवकोटि आचार्य का कोई भी ग्रन्थ नहीं सुना गया है और न कहीं किसी ने उसका उल्लेख ही किया है। हमारी समझ से यह ( रत्नमाला ) ग्रन्थ इतना प्राचीन नहीं हो सकता। यह अपेक्षाकृत आधुनिक है। या तो इसके अंतिम श्लोक के 'शिवकोटित्व माप्नुयात' पद से ही

किसी ने इसके कर्ता के नामकी कल्पना करली है. और यदि इस पद में कर्ता ने अपना नाम ही ध्वनित किया है तो वे कोई दूसरे ही शिवकोटि हैं।"—भगवती आराधना में ऐसा कोई विधान नहीं है, तब उसीके कर्ता अपने दूसरे ग्रन्थ में ऐसी जघन्य आज्ञा कभी नहीं दे सकते थे। प्रेमी जी लिखते हैं कि—

"जैन साधु जलाशयों में से शौचादि के निमित्त जल-ग्रहण नहीं करते। श्रावकों से प्राप्त किया हुआ प्रासुकजल ही उनके काम आता है परन्तु इस (रत्नमाला में) इस नियम के विरुद्ध ही लिखा है।" देखिये श्लोक ६३-६४॥ दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थ का ६५ वां श्लोक यशस्तिलक चम्पू के "सर्वमेव हि जैनाना प्रमाणं लौकिकी विधिः" इस श्लोक से मिलता जुलता है, जिसका रचना काल सम्वत् १०१६ है। इससे भी सिद्ध है कि रत्नमाला ग्रन्थ प्राचीन नहीं है और उसके कर्ता शिवकोटि भगवती आराधना के कर्ता आचार्य शिवकोटि नहीं हैं। वे आचार्यवर्य कभी भी ऐसे शिथिलाचार का समर्थन नहीं कर सकते थे।"

जिन २ जैन ग्रन्थों में दिगम्बर मुनियों के गुणगान किये गये हैं उन २ ग्रन्थों में वन, पर्वत नदी या सरोवर तट का वर्णन आता है। इसके कुछ प्रमाणों पर ख्याल करिये—

श्री पद्मनन्दि विरचित 'धम्मरसायण' में कहा है कि—

घोरंधकारगहिले कापुरीसभयागरे परमभीमे।

मुणिणो वसन्ति रयणे तरुमूलेवरिसियालम्मि ॥१८८॥

अर्थात्—वर्षा ऋतु में मुनिराज घोर अन्धकार से गहन, कायर पुरुषों को भयभीत करने वाले, महा भयंकर वन में और वृक्षों के नीचे निवास करते हैं।

इसीप्रकार अन्य ऋतुओंका वर्णन करते हुये भी कई आचार्यों ने मुनियों के वनोवास की ही प्रशंसा की है। यथा—
अमितिगति आचार्य ने सामायिकपाठ के २४ वें श्लोक में

"येशां काननमालयं"

अर्थात् 'जिनकानिवास स्थान वन हीहै' इत्यादि विशेषण देकर वर्णन किया है। देवशास्त्र गुरु की पूजा में प्राकृत गुरुजयमाल में मुनिराजों का वर्णन करते हुये लिखा है कि "जेगिरिगुह कंदर विवरथंति" अर्थात् मुनिराज गिरि गुफा और कन्दराओं के विवर में निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त सप्तर्षि पूजा की जयमाल में कहा है कि—

*जय ग्रीषम ऋतु पर्वतमझार, नित करत अतापन योगसार।*
*जय वर्षाऋतु में वृक्षतीर, तह अतिशीतल झेलत समीर॥*
*जय शीतकाल चौपथ मझार, कै नदी सरोवर तट विचार।*
*जय निवसत ध्यानारूढ़ होय, रंचक नाहि मटकत रोमकोय॥१२॥*

सागारधर्मामृत में भी "वसेन्मुनिवने नित्यं" इत्यादि श्लोक से संयताश्रमको वनप्रदेश वतलाया है। भगवान अकलंक देव ने मुनियों के परिषह का वर्णन करते हुये लिखा है कि—
"खरविषम प्रचुरशर्कराकपालशकटातिशीतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतः" (राजवार्तिक अ० ९ पृ० ३३५) मुनियों के मौहूर्तिकी निद्रानुभवन के प्रदेशों का वर्णन करते हुये जो यह विशेषण दिये गये हैं वे संगमरमर (आरस पत्थर) आदि से सुशोभित जिनमन्दिर या नगर-हवेलियों के नहीं किन्तु भयानक वनोंके हैं। तात्पर्य यहहै कि पुरातन ऋषि एवं आचार्योंसे लेकर नूतन कवियों तकने मुनियों के वनोवास का विधान किया है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक जगह मुनियों के नगरादि

निवास का निषेध जैनाचार्यों ने किया है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है कि—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥ ५६ ॥

—अष्टपाहुड़ ( बोधप्राभृत )

अर्थात्—उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करने वाले मुनि निर्जन वन में ही नित्य रहते हैं और शिला काष्ठ एवं भूमितल पर विराजमान होते हैं। यहां पर 'णिज्जण देसेहि णिच्च अत्थेइ' पद से स्पष्ट मालूम होता है कि मुनियों को नित्य वन में रहना चाहिये। पं० मक्खनलालजी ने अनेक प्रमाण मुनियोंको मंदिरमें ही निवास करने के दिये हैं। मगर उनमें से कई प्रमाण तो ऐसे हैं जिनसे उल्टा पण्डितजी के मतका ही खण्डन हो जाता है। जैसे आपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ४२ पर राजवार्तिक का प्रमाण देते हुये मुनियों का ग्राम और नगर में एक दिन तथा पांच दिन ठहरने का उल्लेख किया है। परन्तु यह सर्वसाधारण मुनियों के लिये कथन नहीं है। कृपया आप उस वार्तिक के विशेषणों पर ध्यान दीजिये। और आपके ही हिन्दी अर्थ पर विचार करिये। उसमें कहा गया है कि—

"जिन मुनियों ने बहुत काल तक गुरुकुल में रहकर पूर्ण अभ्यास किया हो, बंधमोक्षादि पदार्थों को जान लिया हो, कषायों को जीतने में जो तत्पर हैं ऐसे मुनिराज तीर्थों की वन्दना भक्ति करने के लिये जो देशान्तरों में विहार करना चाहते हैं और जो नाना देशों की भाषा, वचन-चातुर्य एवं व्यवहार को जानते हैं वे गुरुकी आज्ञा लेकर विहार करते हुये ग्रामों में एक दिन और नगरों में ५ दिन ठहरते हैं।"

अब पण्डित जी को तथा समस्त जैन समाज को विचार

करना चाहिये कि यह नियम कैसे उत्कृष्टपद प्राप्त मुनि के लिये, सो भी तीर्थवन्दनादि के समय, बताया गया है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण मुनियों को वन में ही निवास करना चाहिये और घोरतपस्वी एवं ज्ञानप्राप्त मुनि ही खास कारण होने पर नगर में १ से ५ दिन तक निवास कर सकते हैं।

## नगर निवास का निषेध।

मुनियों के नगर निवास का निषेध करने वाले और वन में रह कर ही ध्यानादि करने वाले अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। विशेष न लिख कर अब मात्र सर्वमान्य श्रीजिनसेनाचार्य के आदिपुराण के कुछ श्लोक इस विषय में उद्धृत किये जाते हैं—

*स्त्रीपशुक्लीवसंसक्तरहितं विजनं मुनेः।*
*सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः॥२१-७७॥*

अर्थात्—स्त्री पशु और नपुंसकों से रहित निर्जन स्थान में ही मुनियों को सर्वदा निवास करना चाहिये और ध्यान के समय तो इसका खास विचार करना चाहिये। यहां पर मुनियों के निर्जन स्थान में निवास के साथ ही साथ 'सर्वदा' पद सूचित करता है कि मुनियों को सदा जङ्गल में निवास करना चाहिये। इसके बाद आचार्य कहते हैं कि—

*वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः।*
*बाहुल्यादिन्द्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः॥२१-७८॥*

अर्थात्—जो मुनि मनुष्यों से भरे हुये नगरादि प्रदेशों में निवास करते हैं और विषयों को देखा करते हैं ऐसे मुनियों का चित्त इन्द्रिय विषयों की बहुलता होने से कदाचित् चंचल हो सकता है। इसलिये नगरों या मन्दिरों में निवास नहीं

सुवर्णरौप्यविद्रुममौक्तिका जपमालिकाः ।
उपवाससहस्राणां फलं यच्छन्ति जन्तवः ॥

इसपर विवेकी जनों की ओर से विरोध यह उठाया गया था कि मालायें फल देने वाली नहीं होती हैं, किन्तु जीवों के शुभाशुभ परिणाम फल में प्रधान कारण हैं। मालायें न हों तो भी मनुष्य मात्र आत्मध्यान से शुभ फल पा सकता है, मगर बेश-कीमती मालायें हाथ में रहते हुये भी मनःप्रवृत्ति शुभ न होने से वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। इस सीधी सादी बात पर भी पंडित मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के १२ पृष्ठ काले कर डाले हैं! उनमें आपने कई संस्कृत और प्राकृत श्लोक भर दिये हैं और उनसे यह सिद्ध किया है कि—"मालायें ९ प्रकार की होती हैं, इनसे अंगुलियों पर जाप करना चाहिये, माला १०८ वार जपना चाहिये, पुष्पों से जाप करना चाहिये, मालायें लाल पीली हरी आदि होती हैं, मन्दिर में चंदोवा भी रत्नों की माला सहित होना चाहिये" इत्यादि।

धन्य है वादीभकेशरीजी आपकी न्यायालंकारिताको! विषय तो क्या है और आप लिखने क्या बैठे हैं? यह कौन कहता है कि मालाओं के इतने प्रकार नहीं होते? मगर मात्र कीमती मालाओं से हज़ारों उपवासों का फल प्राप्त होजाता है, इसी बातपर विवाद है; जिसे आप १२ पृष्ठ काले करने पर भी और नासमझ लोगों को भ्रम में डालने के लिये कई संस्कृत प्राकृत श्लोक भरने पर भी सिद्ध नहीं करसके हैं। इसके अतिरिक्त पंडितजी इस प्रकरण में कितने विषयान्तर हो गये हैं, यह देखकर उनकी पदवियों पर दुःख होता है!

पंडित जी पृष्ठ ८९ पर लिखते हैं कि "रत्नों आदिकी मालायें और भी विशेष परिणामोंकी आकर्षकताके लिये साधक

हैं !" देखा, अन्तमें पंडितजी को वही कीमती मालाओंका ही दुराग्रह रहा ! मैं पूछता हूँ कि एक गरीब आदमी विना माला के वा सूत की माला लेकर निश्चल हो शुद्ध भावों से जाप करता हो और आपके प्रभु सेठ लोग हीरे की माला लेकर बैठे हों, तब सत्य तो कहिये कि विशेष परिणाम किसके लगेंगे ? क्या सेठ जी को अपनी बेशकीमती माला का ध्यान बार २ नहीं आ जावेगा ? क्या उसके निमित्त से कुछ मान कषाय प्रबल नहीं होगी ? यदि निष्पक्ष होकर विचार करेंगे तो सत्य दृष्टिगोचर होने में विलम्ब नहीं लगेगा। भावसंग्रह में श्री देवसेनसूरि ने कहा है कि—

भावेण कुणइ पावं पुरणं भावेण तहय मुक्खं वा।
इयमन्तर णाऊणं जं सेयं तं समायरहं ॥ ५ ॥

अर्थात्—पुण्य पाप या मोक्ष परिणामों से ही होता है। इसलिये इस भेद को समझकर जो ठीक लगे उसका आलंबन करो। इसीसे सिद्ध है कि सोने चांदी और मोती माणिककी मालाओं से हज़ारों उपवास का फल भट्टारकीय दिमाग़ का ही आविष्कार है। उसे ही आप भी सिद्ध करने को बैठे हैं। मगर जैनधर्म में मालाओं का कोई विशेष महत्व नहीं है।

## आसनों का माहात्म्य

चर्चा २५ पृष्ठ २५—जाप की भांति इस चर्चा में आसनों का भी पाखंड बतलाया गया है। पांडे जी का लिखना है कि "जो घांस के आसन पर बैठ कर पूजा वा जप करता है उसके दरिद्रता बनी रहती है। पाषाण शिला से रोग पीड़ा, पृथ्वीपर बैठने से सदा दुर्भाग्य (भाग्यहीनता या बदनसीबी), तृण या घास के आसन पर बैठने से चित्त सदा विभ्रम या डावां-

डोल, ऊनके आसन से पाप वृद्धि, नीले रंग के वस्त्र से अधिक दुःख और हरित वस्त्र पर बैठ कर पूजा या जप करने से मान का भंग होता है !"

पांडे जी की इस वैज्ञानिक (!) बुद्धि पर किसे आश्चर्य नहीं होगा ? आप उक्त आसनों पर बैठने से तो इतने अनर्थ बतलाते हैं मगर सफ़ेद वस्त्र के आसन पर बैठने से यशोवृद्धि, हल्दी के रंग से रंगे वस्त्र से हर्षवृद्धि, लाल वस्त्र सर्वश्रेष्ठ और दाभ के आसन पर बैठने से सब कार्यों की सिद्धि होना कहते हैं। इन सब पाखण्डी कल्पनाओं के लिये चर्चासागर के जनकभूत धर्मरसिक-त्रिवर्णाचार के १०७ से ११० तक के श्लोक प्रमाण में दिये हैं। बात यह है कि 'जैसे को तैसे मिले'; यह त्रिवर्णाचार तो चर्चासागर का भी काका है। इसमें भी तो अनेक मिथ्याचार, अनाचार, पाप और पाखण्डों की धर्म की ओट में खूब पुष्टि की गई है। इसी भ्रष्ट ग्रन्थ में काममेवन की विधि खुले और लज्जाहीन शब्दों में बताई गई है। आठवें अध्याय के ३५ से ५० श्लोकों का वर्णन पढ़ कर ग्रन्थकर्ता की सदाचारिता और उनके धार्मिकपने का पता लग सकता है। 'पत्न्या जंघे प्रसारयेत्' तथा 'योनि स्पृष्ट्वा जपेन्मंत्रं' एवं 'योन्यां शिश्नं प्रवेशयेत' तथा 'योनेस्तु किंचिदधिकं भवेल्लिंगं' और 'रेतः सिंचेत्ततोयोन्यां' आदिक अनेक मर्यादाहीन वाक्यों का प्रयोग इस त्रिवर्णाचार में किया है। सभ्यता के लिहाज़ से इनका हिन्दी अनुवाद मैं यहां नहीं देना चाहता हूँ।

इन असभ्य विधानों में ही 'योनिपूजा' करने की विधि भी बतलाई गई है। और उसके लिये एक मन्त्र लिखा है। योनिपूजा के साथ ही साथ योनि के प्रक्षालका भी विधान है। कारण कि प्रक्षाल पूर्वक ही पूजा होती है। वह विधि इस प्रकार है—

"गोमयगोमूत्रक्षीरदधिसर्पिः कुशोदकैर्योनिंमक्षाल्य श्री गंधकुंकुम कस्तूरिकाद्यनुलेपन कुर्यात् ।"

अर्थात् गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, डाभ और जल से योनिका प्रक्षाल करके उस पर गंध, केशर, कस्तूरी, आदि सुगंधित द्रव्यों का लेप करे। इस पूजा के बाद लिखा है कि ॐ ह्रीं अर्हद्भ्योनमः, आदि पंचपरमेष्ठी का मंत्र पढ़कर स्त्री का आलिंगन करे। आगे उसकी पूरी विधि का विधान किया है।

तात्पर्य यहहै कि ऐसे दुराचारी एवं भ्रष्ट ग्रन्थके आधार पर यह चर्चासागर लिखा गया है। इसमें अनेक स्थानों पर त्रिवर्णाचार की ऊलजलूल बातोंका संग्रह किया गया है। मगर दुःख का विषय है कि पं० मक्खनलाल जी और उनकी कंपनी के कुछ विद्वान कहे जाने वाले व्यक्ति उस योनिपूजक त्रिवर्णाचार के उपासक हैं तथा उसे आर्ष वाक्य मानते हैं। किन्तु उसमें प्रतिपादित विधानों का पालन करते हैं या नहीं सो तो वे ही जानें। इस ग्रन्थ का २३६ पृष्ठों मे विस्तृत खंडन 'ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग' के नाम से पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब ने किया है। इसका प्रबल प्रमाणों से खंडन किये जाने पर भी कुछ हठाग्रही उसे भगवद्वाणी मानते हैं और जब वे उसे प्रमाण मानते हैं तब उसके आधार पर रचे गये चर्चासागर को प्रमाण मानना स्वाभाविक ही है।

पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट में लिखा है कि चर्चा सागर में आचार्य वाक्यों के प्रमाण दिये गये हैं, इसलिये यह ग्रन्थ भी प्रमाणीक ही है। साथ ही समाज को धोखे में डालने के लिये कुछ ग्रन्थों और आचार्यों के नाम भी गिना दिये हैं; मगर त्रिवर्णाचार और उसके सभ्य (!) कर्त्ता सोमसेन का नाम साफ़ उड़ा गये हैं। कारण कि जनता उस ग्रन्थ की भ्रष्टतासे खूब

परिचित है, मगर इस प्रकारके उपगूहन अङ्गसे कोई लाभ नहीं होसकता । त्रिवर्णाचार के प्रमाणोंसे चर्चासागर के निम्नलिखित पृष्ठ भरे पड़े हैं—२१, २२, २५, २६, ३८, ४०, ४१, ४७, १४०, १४५, २७७, २९८ से ३०५, ३३३ से ३३६, ३३९, ३४०, ४८४, ४८५, इत्यादि के श्लोक नम्बर १९, २०, २१, २२, १५–१८, ३१, ३२, प्रथम, २२–२६, २७–३०, २१–२२, ६९–७१, तीसरे, ३४–३५, अन्तिम, ७५–७६ और विना नम्बर के पचीसों श्लोक हैं। उसके वाद १ से ९ श्लोक, १ से ७ प्रथम, ८५। ८८, १ से ६ इत्यादि श्लोक त्रिवर्णाचार के पृष्ठ ७२, ७२,७१,७४,३०३,३०४, ५४, ३५४, १२८, ५५, ६५, २७२ से २७६, ३६६ से ३६९, ३७३, ३७९,३८०, १७३ से १७५, इत्यादि के श्लोक वरावर मिलते हैं।

फिर भी चर्चासागर के प्रमाण ग्रन्थों का नाम पण्डित जी द्वारा उनके ट्रैक्ट में उड़ाया जाना क्या रहस्य रखता है ? त्रिवर्णाचार में एक नहीं किन्तु पीपलपूजा, योनिपूजा, श्राद्ध, तर्पण, गौदान, आदि अनेक मिथ्यात्व विधान भरे पड़े हैं। इसी के आधार पर चर्चासागर में भी खूव पाखण्ड रखा गया है । यदि जैन समाज ने त्रिवर्णाचार का विरोध प्रारंभ में ही कर दिया होता तो आज उसी का विषफल चर्चासागर समाज में मुद्रित होकर नहीं फैल पाता। मगर दुःख का विषय है कि जिस समय त्रिवर्णाचार का विरोध जैन समाज में उठाया गया था उस समय कुछ स्वार्थी जैनी पंडों ने उसको आगम ग्रन्थ सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया था । उसी प्रकार आज चर्चा-सागर की हालत है । मगर हर्ष का विषय है कि २–४ पण्डितों के अतिरिक्त आज चर्चासागर को कोई प्रमाण नहीं मानता है । वह ज़माना तो निकल गयाहै । अच्छा, तो मूल वात चर्चासागर के विचित्र आसन विधानों की थी । इसमें पहिली वात तो यह है कि यह प्रकरण ही अप्रमाणिक एवं अनार्ष ग्रन्थ से उद्धृत

किया गया है। दूसरे यह बात किसी भी युक्ति, आगम या विज्ञान से भी सिद्ध नहीं होती है। समझ में नहीं आता कि बांस के आसन पर जप-पूजा करने से दरिद्रता और पाषाण से रोग पीड़ा एवं पृथ्वी से दुर्भाग्य आदि का क्या संबंध है। हम तो समाज में सर्वत्र देखते हैं कि स्त्री पुरुष बांस या काष्ठासन पर बैठकर या खड़े होकर जप या पूजा करते हैं। तीर्थों पर या मन्दिरों में पत्थर पर भी पूजा करते हैं और खाली पृथ्वी पर भी खड़े होकर या बैठकर पूजा-जप आदि होता ही है। तब तो सारी जैनसमाज रोगी, दरिद्री, अभागी, अपकीर्ति वाली एवं चलचित्त होनी चाहिये।

जिन आसनों पर बैठना पाडे जी ने शुभ बतलाया है उन सफ़ेद, पीले और लाल वस्त्रों पर बैठकर तो शायद ही कहीं पूजा होती हो। आश्चर्य तो यह है कि चर्चासागर के संपादनकर्ता पं० लालाराम जी ने भी पृष्ठ २५ के नीचे अपना एक नोट लगा दिया है कि "आजकल चटाई पाटा आदि पर जो जप करते हैं वे भूलते हैं"। मैं पण्डित जी से पूछता हूँ कि महाराज! आप, आपके भाई पं० मक्खनलाल जी या ज्ञानसागर जी तथा आचार्यसंघ या समस्त दि० जैन मुनि वर्तमान में चटाई या पाटा पर बैठकर जाप आदि करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तो बतलाइये कि वे सब क्यों पापकर्म का बंध कर रहे हैं?

ऐसी पाखण्डी बातों का विधान किन्हीं आर्षग्रन्थों में तो नहीं मिलता है, प्रत्युत इसके विरोध में अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। यथा—

*दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा शिकितास्थले।*
*समाधि सिद्धये धीरो विदध्यात् सुस्थिरासनम्॥*

—ज्ञानार्णव २८-९॥

अर्थात्—ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के पट्ट पर, शिलापट्ट पर, भूमि पर अथवा रेत के स्थल पर सुदृढ़ आसन लगाना चाहिये।

पं० मक्खनलालजी ने अपने ट्रैक्ट के ६ पृष्ठों में आसनों पर विचार किया है तथा व्यर्थ में इन पाखण्डों के समर्थन करने का प्रयत्न किया है। पण्डितजी का कहना है कि यह आसनविधान मुनियों के लिये नहीं मगर श्रावकों को है। अच्छा महाराज! श्रावकों को ही सही; मगर बतलाइये तो कि पत्थर या ज़मीन पर पूजा-जाप करने से गृहस्थ का सत्यानाश कैसे हो जायगा? आप तो जैन सिद्धान्त शास्त्री हैं, कर्मकाण्ड के वेत्ता हैं, तब बतलाइये कि मात्र आसनों के फेरफार से ही उद्धार एवं विनाश कैसे हो जायगा?

आप लिखते हैं कि 'आसन भेद उपयोगी एवं आवश्यक है, मंत्र शास्त्रों में अमुक २ आसनों का विधान है, गर्भान्वय क्रिया में दर्भासन बताया गया है, इत्यादि'। मैं पण्डितजी से पूछता हूं कि यह सब कुछ बताया गया हो, मगर ज़मीन पर पृथ्वी पर या चटाई पर पूजा पाठ करने से विनाश होने का कथन किस आर्षग्रन्थ में बताया गया है? जब आप 'शास्त्रीय प्रमाण' लिखने बैठे थे तब आपको एक भी तो शास्त्रीय प्रमाण देना था! मगर आपने यह कुछ न लिखकर पांडेजी की हां में हां मिलाने के लिये व्यर्थ ही ६ पृष्ठ रंग डाले हैं!

पण्डितजी ने एक तर्क की है कि यह आसनभेद परमार्थसिद्धिके लिये नहीं किन्तु लौकिक सिद्धि या मनोरथ सिद्धि के लिये जो जप या पूजन किया जाता है उसके लिये यह आसन भेद बताया गया है। मगर मैं पण्डित जी से पूछता हूं कि शास्त्रीजी! वीतराग भगवान की पूजा पुत्र-प्राप्ति या धन-लाभ के लिये करने की आज्ञा कौन से शास्त्रों में बतलाई गई

है ? हम मानते हैं कि कभी किसी ने मनोरथ सिद्धि के लिये पूजा की होगी, मगर यह शास्त्रीय आज्ञा या जिन भगवान का कथन नहीं है कि वीतराग पूजा से पुत्रादि की प्राप्ति हो जायगी। फिर आप लौकिक सिद्धि के लिये पूजा बतलाते हैं, यह आश्चर्य की बात है। दुःख का विषय है कि ऐसे पाखण्डों के समर्थन से मूल जैन सिद्धान्त का विनाश हो रहा है। अन्यथा इस परम वैज्ञानिक धर्म में आसन या मालाओं के लिये कोई महत्व नहीं है।

## जप करने का स्थान !

चर्चा २६ पृ० २६—में लिखा है कि "अपने घर में जप करने का फल एक गुना है, वनमें सौ गुना, बाग या उपवन में हज़ार गुना तथा जिनमन्दिर में जप करने का फल करोड़ गुना है!"

इसमें भी प्रमाण दिया गया है उसी अनाचार-प्रचारक त्रिवर्णाचार का! पांडेजी ने अनेक स्थलों पर त्रिवर्णाचार न लिखकर धर्मरसिक नाम लिखा है, जिससे जनता धोखे में आजावे और समझे कि यह धर्मरसिक नाम का कोई आचार्यप्रणीत ग्रन्थ होगा। मगर यह धर्मरसिक त्रिवर्णाचार का ही उपनाम है। कारण कि त्रिवर्णाचार के प्रारम्भ में ही ९वें श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि—

*तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकं शास्त्रं त्रिवर्णात्मकम्।*

अर्थात्—मैं इस त्रिवर्णात्मक धर्मरसिक ग्रन्थ की रचना करता हूं। इसके अतिरिक्त अध्यायपूर्ण करते हुये लिखा है कि "इति श्री धर्मरसिकशास्त्रे त्रिवर्णाचार निरूपणे भट्टारक श्री सोमसेन विरचिते सामायिकाध्यायः प्रथमः।"

इस प्रकार धर्मरसिक त्रिवर्णाचार का ही नामान्तर है, मगर पांडेजी ने प्रमाण में भिन्न २ नामों का प्रयोग किया है। कहीं २ तो यह दोनों नाम न लिखकर यह लिख दिया है कि 'सो ही लिखा है', इसका कारण यह है कि एक ही नाम लिखने से त्रिवर्णाचार के प्रमाणों की बहुलता मालूम होने लगती। बस, इसी पाप के छुपाने को यह सब किया है!

अच्छा, तो यहां पर भी पांडेजी ने जप करने का स्थान वन की अपेक्षा मन्दिर दस हज़ार गुना अधिक फलदाई बतलाया है। पांडेजी को जब मुनियों का वनमें रहना ही पसन्द नहीं है तब जप करना भी क्यों न मन्दिर में ही बता दिया जाय? पूर्व के मोक्षगामी महापुरुषों ने तो पांडेजी की दृष्टि में भयङ्कर भूल की थी जो ऐसे बढ़िया मन्दिरों को छोड़कर वन में गये, कष्ट सहे और करोड़ गुना पुण्य गुमाया।

कोई यों तर्क कर सकता है कि भाई! यह जप तो गृहस्थों को लौकिक कार्य की सिद्धि के लिये है। मगर यह तर्क भी ठीक नहीं है। कारण कि चर्चासागर के इसी पृष्ठ पर जप करने की विधि और उसका फल बतलाते हुये लिखा है कि "अंगुष्ठजापो मोक्षाय" अर्थात्—मोक्ष प्राप्ति के लिये अंगूठे से जपना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि पांडेजी की इच्छा सभी प्रकार के जप वनों की अपेक्षा मन्दिरों में ही बताने की थी! और मोक्ष के लिये जप करने वाले मुनिराजों को भी मन्दिर में ही बैठाना अभीष्ट था। सच बात तो यह है कि पांडे जी भट्टारकों के परमभक्त थे। बढ़िया से बढ़िया रेशमी, जरी और पश्मीना के वस्त्र पहिनने वाले, पीछी कमण्डलु, चौकी खड़ाऊं आदि चांदी सोने का सामान रखने वाले तथा मनों रुई के गद्दे तकिया आदि का उपयोग करने वाले, और चपरासी, पुलिस, छड़ीदार, घोड़ा, गाड़ी, बैल, पालकी तथा नौकर

चाकर आदि सभी प्रकार के चेतन अचेतन परिग्रह को रखने वाले और मन्दिरों में मौज करने वाले भट्टारकों को ही पांडे जी मुनि समझ बैठे थे। इसीलिये आपने चर्चासागर के पृ० १७ पर मुनियों को वनवास का निषेध बतलाकर जिनमन्दिर में रहना सिद्ध करना चाहा है। और यहां पर भी वनकी अपेक्षा मन्दिर में जप करने का दस हज़ार गुना पुण्य बतलाया है। पांडेजी महापरिग्रही भट्टारकों को दिगम्बर जैनमुनि मानते थे, यह बात निःसन्देह है। कारण कि चर्चासागर में पृष्ठ ४० पर दस प्रकार के नग्न बतलाये हैं। उनमें लाल रंग की लँगोटी या लालवस्त्र पहिनने वालों को भी दिगम्बर बतलाया है। बस, यही लक्ष में रखकर यह चर्चायें की गई हैं जो कि वीत-राग दिगम्बर साधुओं के साथ भी लागू की गई हैं। अन्यथा ऐसा कोई कारण नहीं है कि मन्दिर की अपेक्षा वनमें कई गुना फल कम लगता हो।

यदि गृहस्थों को लक्ष्य करके भी विचार किया जाय तो भी यह ठीक नहीं है। कारण कि लौकिक सिद्धियों के लिये भी जप करने का विधान बियावान वन, स्मशान, नदी का तट या ऐसे ही निर्जन स्थान बतलाये गये हैं। अनेक विद्या-धरों ने, रावण ने और शंबुकुमार आदि गृहस्थों ने भी वन में विद्यासिद्धि की थी। भक्तामर स्तोत्र के यंत्र मंत्रों की विधि उठाकर देखिये, और भी मंत्रों की जाप्य विधि पर विचार करिये, तो मालूम हो जायगा कि मन्दिर में जप करना फल-प्रद होता है या वन में? पाँडेजी के पाखण्डों का तो कोई ठिकाना ही नहीं था। मानो वे जैनियों के कर्मसिद्धान्त को अपने तूतों के सामने कुछ भी नहीं समझते थे। आपने जप करने का फल अंगुलियों के आधार पर रखा है और लिखा है कि--

अंगुष्ठजापो मोक्षाय उपचारे तु तर्जनी ।
मध्यमा धनसौख्याय सान्त्यर्थं तु अनामिका ॥

अर्थात्—मोक्षकी प्राप्ति के लिये अंगूठे से जपना चाहिये, औपचारिक कार्यों को सिद्धि के लिये तर्जनी अंगुली से, धन और सुख प्राप्ति के लिये मध्यमा अंगुली से तथा उपद्रवादि शान्ति के लिये अनामिका अंगुली से जाप करना चाहिये। और बाकी बची छिंगुरी ( कनिष्ठा ) से जाप करने से तो सर्व-सिद्धियां हो जाती हैं। अब पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि पाडे जी जैन सिद्धान्त के कैसे मर्मज्ञ (?) थे। उन्हें केवल इधर उधर के मंत्र तंत्र, और छल क्षुद्रम ही सूझा करते थे, ऐसा मालूम होता है। कारण कि चर्चासागर में ऐसी ही अनेक ऊलजलूल चर्चायें पाई जाती हैं। फिर भी इस ग्रन्थको जैनागम माना जाय यह बड़े दुःख की बात है।

## शूद्र के देखने का निषेध !

चर्चा २७ पृ० २७—पर लिखा है कि जप करते समय यदि व्रतच्युत अथवा शूद्रका दर्शन होजाय, या इनके साथ बात-चीत करे या इनके शब्द भी कानों में आजायें तो उसी समय जप छोड़ देना चाहिये। तथा आचमन और प्राणायाम करके शुद्ध होना चाहिये। पीछे बाकी का बचा हुआ जप पूर्ण करे। प्रमाणमें वही धर्मरसिक (त्रिवर्णाचार) के श्लोक रखे गये हैं। यथा—

व्रतच्युतान्त्यजातीना दर्शने भाषणे श्रुते ।
क्षुतेऽधोवातगमने जृंभनेजपमुत्सृजेत् ॥ ३३ ॥

चर्चासागर में इस श्लोकका नम्बर ३३ दिया है। मगर वास्तव में यह छपे हुये त्रिवर्णाचार में तीसरे अध्यायका १२५ वां

श्लोक है। इस श्लोक में व्रतच्युत और शूद्रों के साथ जो अमानुषिक घृणा बतलाई गई है वह जैनियों को और उद्धार पतित-पावन जैनधर्म के लिये घोर लज्जा की बात है।

वैदिक धर्म या अन्य धर्मों से जैनधर्म में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहा पर व्यक्ति या जाति के पक्षपात विना सभी को समान अधिकार दिये जाते हैं। सभी के साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार किया जाता है और सभी मनुष्यों को समान स्थान मिलता है। इसका सबसे अच्छा दृष्टांत भगवान का समवशरण है। मगर चर्चासागर के इस प्रकरण में वीर भगवान के इस विशाल एवं उदार-सिद्धांत का गला घोंटा गया है! वह भी मात्र उसी भ्रष्टाचार-प्रवर्तक त्रिवर्णाचार के ही आधार पर!

पांडे चम्पालाल या सोमसेन के इन अनुदार शब्दों के समर्थन में पं० मक्खनलाल जी ने भी अपने ट्रैक्ट के १२ पृष्ठ काले किये हैं! इन्हीं सब कृतियों से जैनियों के विशाल धर्मपर भयंकर कालिमा पोती गई है! कहां तो शूद्रों, चाण्डालों, म्लेच्छों और पशु पक्षियों तक का उद्धार करनेवाला जैनधर्म और कहां शूद्र के दर्शन या उसके शब्द सुन लेने मात्र से धार्मिक कार्य को छोड़कर शुद्ध होना! बस, अनुदारता की हद होगई! जगदुद्धारक जैन सिद्धांत पर यह एक भयंकर कलंक लगाया गया है!

पंडित मक्खनलाल जी १२ पृष्ठ भरकर भी कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं दे सके। मैं पंडितजी को चैलेंज देता हूँ कि आप ऐसी बातका समर्थन किसी दिगम्बराचार्य के ग्रन्थसे बतला दीजिये! व्यर्थ ही इन स्वार्थी भट्टारकों की हाँ में हाँ मिलाकर क्यों सत्य को ठुकराते हैं? आपके आचार्य (!) सोमसेन भट्टारकने तो त्रिवर्णाचार में यहां तक लिखा है कि–

अन्त्यजैः खनिताः कूपा वापी पुष्करिणी सरः ।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं स्नानपानाय च क्वचित् ॥ ३-५९॥

अर्थात्—शूद्रों-अन्त्यजों के द्वारा खोदे गये कुयें वावड़ी तालावआदि का पानी न तो पीना चाहिये और न उससे स्नानादि करना चाहिये। देखा सोमसेन भट्टारकका मानवीय प्रेम ! इस सोमसेनी पंथ के अनुयायी पं० मक्खनलाल जी एण्ड कम्पनी को चाहिये कि वह भारत के तमाम कुंयें तालाव वन्द करा देवे। कारण कि प्रायः तमाम कुंवा तालाव और वावड़ी शूद्रों के द्वारा खोदी गई हैं।

मैं पूछता हूँ कि मन्दिर या मकान के आगे से शूद्र जा रहे हों और भीतर जप किया जा रहा हो तो क्या उनका आना जाना ही वन्द करा दिया जाय ? मुसलमान लोग तो नमाज़ के समय वाजे से भड़कते हैं और लट्ठ लेकर मरने मारने को तैयार हो जाते हैं, तव क्या जैनियों को भी विचारे शूद्रों की बोलती वन्द करने के लिये मन्दिरों में लट्ठ लेकर मुसलमानों की-तरह वैठना पड़ेगा ? या फिर तहखानों में वैठकर जप करना होगा ? कारण कि कमसे कम शूद्रों का शब्द तो कानों में कहीं न कहीं से आ ही जायगा। मन्दिरों में नौकर ( माली आदि ) भी तो शूद्र ही होते हैं। तव आप जप करेंगे या वार २ आचमन और उठ वैठ करते फिरेंगे ?

मोक्ष प्राभृतका क्रोधपूर्ण प्रमाण—व्रतभ्रष्ट और शूद्रों को देखकर जप छोड़ देना चाहिये और आचमन प्राणायाम करके पिण्ड छुड़ाना चाहिये। इस भट्टारकीय आज्ञा की सिद्धीमें जव पं० मक्खनलाल जी को कोई प्रमाण नहीं मिला तव आपने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १०७ पर षट्प्राभृतादि संग्रह के मोक्षप्राभृत की गाथा नं० २ की संस्कृत टीकामें से मतलव की कुछ पंक्तियां

उठाकर रख दी हैं! मगर उन पंक्तियों में भी यह बात नहीं है कि जप छोड़कर आचमन और प्राणायाम करके शुद्ध होना चाहिये। उस टीका में तो एक आवेशपूर्ण विचित्र ही कथन है, जिसका भाव यह है कि—

"गृहस्थों को परमात्म-ध्यान नहीं करना चाहिये—गृहस्थों का कर्तव्य तो दान पूजादिक ही है। फिर भी जो गृहस्थ अपने को ध्यानी कहते हैं वे जिनधर्म की विराधना करने वाले मिथ्यादृष्टि लौंका ( ढूँढ़िया पन्थी ) हैं। वे मुनिधर्म नहीं मानते हैं और गृहस्थ धर्म से भी भ्रष्ट हैं। उनका सवेरे से न तो नाम लेना चाहिये और न मुख ही देखना चाहिये!" इत्यादि।

परमात्मा का ध्यान करने वाले गृहस्थ या ढूँढ़ियाओं पर ही टीकाकारने इतना रोष प्रगट किया है! टीकाकार की दृष्टि में परमात्मा का ध्यान करने वाला गृहस्थ इतना पापी हो जाता है कि वह मुंह दिखाने और नामोच्चारण के भी योग्य नहीं रहता! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की जिस गाथा की यह अनर्थपूर्ण टीका की गई है उस गाथा में इस बात की गंध भी नहीं है। वह गाथा यह है—

णमिऊण य तं देवम् अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

भावार्थ—उस सर्वज्ञ देवको नमस्कार करके योगियों के प्रति अनन्तज्ञान दर्शनादि से युक्त कर्ममल रहित परमात्मा के उत्कृष्ट पदका वर्णन करूंगा। मगर टीकाकारने परमात्मध्यानी गृहस्थ को घोर पापी सिद्ध किया है! सच बात तो यह है कि टीकाकार को लौंका ( ढूंढ़िया ) पंथ से बहुत चिढ़ मालूम होती है। उन्हीं को उद्देश करके उक्त टीका की गई है। इसी लिये कई जगह लिखा है कि—

"उभयभ्रष्टा वेदितव्याः ते लौंकाः।" (पृष्ठ ३०५)
"लौंकाः पातकिनः" (पृ० ५)
"लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति" (पृ० ८)
"ते पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासाः लोंकापकारकायननामानो लौंकाः" (पृ० ६)

इससे मालूम होता है कि टीकाकार विरोधियों के प्रति क्रोधित होकर आपेसे बाहर हो जाते थे। इसके लिये एक दृष्टांत और भी विवेकी जनों के सामने रखता हूं।

## मुंह में गू भरे जूते लगाना चाहिये!

षट् (दर्शन) प्राभृत की गाथा नं० २ की टीका में पृष्ठ ३ पर लिखा है कि—

"शासनदेवता न पूजनीयाः... इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्यते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते।....यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः तत्र पापं नास्ति!!!"

अर्थात्—जो लोग कहते हैं कि शासन देवता (क्षेत्रपाल पद्मावती आदि) की पूजा नहीं करना चाहिये, वे उत्सूत्रभाषी, मिथ्यादृष्टि, चार्वाक, नास्तिक हैं! यदि वे समझाने पर भी दुराग्रह न छोड़ें तो उनके मुंह में विष्टायुक्त (गू भरे) जूते मारना चाहिये! इसमें पाप नहीं है!

यह है टीकाकार के क्रोधी स्वभाव का नमूना! ऐसे ही आवेश में परमात्मध्यानियों को या ढूंढियाओं को धर्मभ्रष्ट, मुंह न देखने योग्य और नाम न लेने के लायक लिख डाला मालूम होता है! जूते मारने की बात भी उन्हीं ढूंढिया जैनी भाइयों के लिये ही लिखी गई है जो कि टीका में दिये गये अन्य विशेषणों से मालूम होता है। अब विद्वान ही विचार करें

कि यह कहां तक युक्त है? फिर भी इसमें व्रतभ्रष्ट या शूद्र-दर्शन से जप छोड़ कर आचमन आदि का विधान तो है ही नहीं, जिससे पं० मक्खनलालजी की अभीष्ट सिद्धि होजाय।

टीकाकार के मन्तव्यानुसार क्या लौंका (ढूंढ़िया) भाइयों को देखकर या उनके शब्द सुनकर जप छोड़ देना चाहिये? क्या अपने जैन भाइयों को देखने से इतनी घृणा करना चाहिये? यदि यह सब पं० मक्खनलाल जी भी कराना चाहते हैं तब तो 'वात्सल्य अङ्ग' की हद होगई। मैं तो जैन समाज से नम्र निवेदन करूंगा कि वह शूद्र या व्रतभ्रष्टके दर्शन से जपादि छोड़ने की मिथ्या कल्पना में न आवे। यह न तो शास्त्रीय मार्ग ही है और न लोक व्यवहार के ही योग्य है, किन्तु जैनियों के विश्ववंधुत्व के अपूर्व सिद्धांत का नाश करने वाला है!

पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १०७ पर लिखा है कि "जबकि प्रातः काल व्रतभ्रष्टों का नाम और दर्शन हानिकारी है (उक्त क्रोधपूर्ण टीका के अनुसार) तब पूजा जप आदि मंगलमय कार्यों में खास कर एकान्त में सिद्ध करने योग्य जप कार्य में उनका संसर्ग अवश्य ही बाधा पहुँचाने वाला है। इसलिये आचार्यों ने व्रतभ्रष्ट और शूद्रों (!) के संसर्ग का जपादि अनुष्ठानों के समय निषेध किया है।"

धन्य है पण्डितजी महाराज! आपके निर्विचिकित्सा और वात्सल्य भाव के लिये धन्य है! इस ज़माने में जैनधर्म का प्रचार आप जैसे महापुरुषों (!) से इन्हीं उपायों से होगा और इसीतरह जैनधर्म और जैन समाज भी सुरक्षित रह सकेगा। वैदिक ज़माने का यशोगान (!) जिस प्रकार आज तक हो रहा है उसी तरह भगवान महावीर स्वामी के विशाल जैन धर्म का इतिहास भी काले अक्षरों में आपके इन्हीं उपायों से लिखा जायगा!

चित्तसंभूतजातक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि 'चाण्डालके दर्शन से ब्राह्मण और वैश्य स्त्रियाँ अपने नेत्र धोती थीं और उन्हें मरवाती थीं'! मातंगजातक सद्धर्मजातक बौद्ध ग्रन्थों का कथन है कि 'वेद का शब्द सुन लेने वाले शूद्रों के कानों में कीले ठोक दिये जाते थे!' क्या इसी प्रकार का जैन इतिहास लिखवाने की भी इच्छा है?

जैन कथा ग्रन्थों को देखने से मालूम होगा कि अनेक मुनियों ने तथा ज्ञानी श्रावकों ने शूद्रों–व्रतभ्रष्टों–पतितों एवं अस्पृश्यों को भी प्रेमपूर्वक उपदेश दिया है। तब उनके नाम और दर्शन को भी हानिकर बतलाना हृदय की तुच्छवृत्ति का एक नमूना है।

षट्प्राभृत की टीका का जो उक्त प्रमाण दिया गया है, वह भी मात्र व्रतभ्रष्ट के लिये लागू होता है। उसमें भी शूद्र का तो नाम तक नहीं है। फिर पंडित जी ने पाँडे जी के स्वर में स्वर न जाने कैसे मिला दिया। पण्डित जी ने कहाँ प्राणायाम और कहीं आचमन सम्बन्धी श्लोकों की भी भरमार की है, मगर शूद्रों के दर्शन से जाप छोड़ देने का तो एक भी प्रमाण नहीं दे सके हैं। वैसे ट्रैक्ट का नाम रक्खा है 'शास्त्रीय प्रमाण!'

इसमें एक बात और है, पाठक ध्यान से उस पर विचार करें। पण्डित मक्खनलाल जी और उनकी कंपनी के मन्तव्यानुसार व्रतभ्रष्ट और शूद्र मन्दिर में तो जा नहीं सकते और जप मन्दिर में किया जा रहा हो (कारण कि घर या वन में जाकर लाखों करोड़ों गुना फल कौन छोड़ेगा?), तब मन्दिर में शूद्रदर्शन की कल्पना क्यों की गई? क्या व्रतभ्रष्ट अनाचारियों एवं अस्पृश्य तथा अदर्शनीय शूद्रों को मन्दिर में जाने के अधिकार को आप स्वीकार करते हैं? यदि मान लिया

जाय कि व्रतभ्रष्ट या शूद्र मन्दिर में जा सकते हैं तब तो किसी को भी मन्दिर-बन्दी का आर्डीनेन्स नहीं रह सकेगा। कारण कि जिसके दर्शन से ही जप छोड़कर शुद्ध होना पड़ता है, उससे अधिक पतित और कौन हो सकता है? अस्तु—

दूसरी बात यह है कि जब ऐसे भ्रष्ट या शूद्र मन्दिर में पहुँचें तब जप करने वाले को क्या मन्दिर में बैठे २ ही आचमन कर लेना चाहिये? क्या मन्दिर में जलपान किया जा सकता है? यदि नहीं तो क्या अधूरा जप छोड़कर घरपर पानी पीने के लिये दौड़ जाना चाहिये? अथवा यदि कोई घर में ही जप कर रहा हो और शूद्र का दर्शन हो जाय तथा जलपान का जपकर्ता को त्याग हो, तब क्या अधूरा जप छोड़ कर मन्दिर जी में दर्शन के लिये दौड़ जाना चाहिये? इस गड़बड़झाले का भी क्या कोई ठिकाना है? सच बात तो यह है कि पांडेजी पर ब्राह्मणधर्म की पूरी छाप लगी हुई मालूम होती है। इसीलिये उन्होंने शूद्रों से घृणा, आचमन आदि को जैनियों में भी रखना चाहा है। और पं० मक्खनलाल जी उसका समर्थन करने को तैयार हुये हैं। अन्यथा जैनधर्म में तो इन तूतों को कोई महत्वपूर्ण स्थान ही नहीं है।

यदि विवेक से विचार किया जाय तो जिसमें मनुष्यता है वह मनुष्यवर्ग से इतनी घृणा कभी नहीं कर सकता। उसमें भी जैनधर्म अमुकवर्ग के देखने या उसके शब्द सुन लेने मात्र में पाप माने यह असंभव बात है। आश्चर्य तो यह है कि जो पूजा आरती जैसे धार्मिक कार्यों में अशुचि गोबर का उपयोग कर सकते हैं, उसे छू सकते हैं, जिनेन्द्र भगवान के पावन चरणकमलों में चढ़ाने का विधान बतला सकते हैं, वे मनुष्य जाति से—व्रतभ्रष्ट या शूद्र बन्धुओं से इतनी घृणा कर सकते हैं कि उनके दर्शन और शब्द श्रवण से शुद्धि करना पड़े! हद

हो गई ! अज्ञान और अनुदारता का पूर्ण विराम यहीं मालूम पड़ता है। पाखण्डी भट्टारकों, पंडों एवं पण्डितों के इस लज्जापूर्ण कारनामों से पतितपावन जगदोद्धारक जैनधर्म बदनाम हो रहा है !

भाषान्तरकार की चालाकी—हस्तलिखित चर्चासागर की २७वीं चर्चा में लिखा है कि वस्त्र पहिन, आचमन पूर्वक जप में बैठे। मगर पं० लालाराम जी ने भाषान्तर में आचमन उड़ाकर उसकी जगह 'सदाचार पूर्वक' शब्द रख दिया है। शायद पण्डितजी को भी पांडेजी का यह आचमन खटकता होगा। कारण कि उपवास युक्त जप करने वाला जप के पूर्व आचमन कैसे करेगा? परन्तु आपके भाई पं० मक्खनलालजी ने तो आचमन भी सिद्ध करना चाहा है। पंडित मक्खनलालजी जब इस मूल बात को सिद्ध न कर सके तब जनता को बहकाने या पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिये आचमन आदि जैन धर्मानुकूल सिद्ध करने को बैठ गये हैं। इसकी सिद्धि में अनेक श्लोक भर दिये हैं और पृष्ठ ९९ पर लिखते हैं कि "यदि देखना चाहते हों तो दक्षिण में चले जाइये। वहां आचमन और प्राणायाम द्वारा शुद्धि करने वाले आपको बहुत मिलेंगे। यदि आप (उत्तरप्रान्त वालों) ने क्रियाकाण्ड या शुद्धि प्रकरण को छोड़ दिया है तो क्या सबों ने छोड़ दिया है ?"

पण्डितजी की दृष्टि में आचमन और प्राणायाम से शुद्धि न करने वाले लाखों जैनी शायद पतित होंगे. कारण कि उन्होंने यह क्रियाकाण्ड छोड़ दिया है और दक्षिण प्रान्तीय जैनों का अनुकरण नहीं करते। समझ में नहीं आता कि पंडितजी और उनकी कंपनी कहां उत्पन्न हुई, कहां पली, कहां खाती पीती है और कहां पण्डिताई कर रही है ? क्या पण्डित जी महा-

राज शूद्रदर्शन से स्वयं भी मन्दिर में पानी पीने बैठते हैं या नहीं ? दूसरी बात मैं यह पूछता हूँ कि जो रिवाज दक्षिण में प्रचलित हैं क्या वे उत्तर प्रान्त में भी चालू होना चाहिये। उस प्रान्त में निर्माल्य खाना पाप नहीं माना जाता तो क्या उत्तर प्रान्तीय जैनों को भी उसका अनुकरण करना चाहिये ? दक्षिण के जैनों को चतुर्थ जाति में धरेजा या विधवा विवाह करना पाप नहीं माना जाता है तो क्या उत्तरवासी जैनों को भी प्रचलित कर देना चाहिये ? समझ में नहीं आता कि पण्डित जी दक्षिण प्रान्तीय जैनों के रिवाजों पर क्यों लट्टू हो गये हैं ?

खेद है कि जैन सिद्धान्त शास्त्रीयता का दावा रखने वाले पं० मक्खनलालजी इन प्राणायाम आचमन और शूद्रदर्शन से शुद्धि आदि निःसार बातों का समर्थन कर रहे हैं, जबकि "अनगिनत अधम कीने पवित्र" वाले जैनधर्म में इन बातों के लिये कोई स्थान ही नहीं है। भले ही इधर उधर से श्लोक संग्रह करके साधारण जनता को भ्रम में डाला जा सके, मगर समझदार लोग तो जान सकते हैं कि यह मात्र चालाकी और धोखे के और कुछ भी नहीं है।

इस विषय में एक बात और विचारणीय है कि जपकर्ता का चित्त व्याकुलता रहित, निश्चल एवं एकाग्र होना चाहिये। चर्चासागर के पृष्ठ २२ पर लिखा है कि—

*व्यग्र चित्तेन यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलंघने ।*
*नखाग्रेण च यज्जप्तं तज्जप्तं निष्फलं भवेत्॥*

यहां पर व्यग्रचित्त होकर जप करने वाले का फलनाश होजाना बतलाया है। इससे सिद्ध है कि जप करते समय एकचित्त होकर, चित्तवृत्ति को रोक कर और तन्मय होकर जप करना चाहिये। जपकर्ता जब अपने इस कर्तव्य का पालन

कर रहा होगा तो उसे यह कैसे मालूम हो सकता है कि यह शूद्र आया है या ब्राह्मण है अथवा कोई पण्डित जी हैं? यदि कोई इन विकल्पों में पड़ता है, अथवा आने जाने वाले स्त्री पुरुषों की ओर देखा करता है तो समझना चाहिये कि वह जप करने में अनधिकारी या अयोग्य है।

दूसरी बात यह है कि मन्दिर में जप होने के समय यदि कोई शूद्र जातीय क्षुल्लक महाराज पधारें तो क्या उन्हें मन्दिरमें प्रवेश करते समय रोक देना चाहिये? कारण कि उनके पहुँचने से जप करने वाले को कदाचित् दर्शन हो जाय तो विचारे को जप छोड़ कर पानी पीने को दौड़ना पड़ेगा, प्राणायाम करना होगा और न जाने किस २ प्रकार से उन क्षुल्लक महाराज के दर्शनका पाप धोना पड़ेगा। यह बात तो प्रत्येक सिद्धान्तज्ञ स्वीकार करते हैं कि शूद्र जाति वाला भी क्षुल्लक होसकता है।

अब सोचिये कि शूद्र जातीय क्षुल्लकके जप करते समय यदि दर्शन हो जायँ तो अपना अहोभाग्य मानना चाहिये या नाक भौं सिकोड़ कर शुद्धि करते फिरना चाहिये?

यदि पाठकगण निष्पक्ष होकर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि पांडे चम्पालाल और उनके गुरु सोमसेन भट्टारक ने मात्र जातीय द्वेष से और अपनी जाति के मदमें मत्त होकर ही शूद्र दर्शन को इतना भयानक एवं पाप का कारण लिखमारा है और उनके परम भक्त पं० मक्खनलाल जी आदि उसका दिलोजान से समर्थन कर रहे हैं! जैनधर्म को बदनाम कराने पर तुले हैं यह कितने दुःख की बात है! जनता को इस विषय पर गंभीरता से विचार करना चाहिये।

## उपवास में जलपान!

चर्चा ३५ पृ० ३५—में पांडेजी ने शिथिलाचार को

पुष्ट करते हुये लिखा है कि यदि कोई हीन शक्तिवाला उपवास के दिन जल पी ले तो उसके आठवा भाग फल नष्ट हो जाता है। यह बात प्रश्नोत्तरोपासकाचार नामके ग्रन्थ में प्रोषधोपवासका कथन करते हुये लिखी हैः—

*नीरादानेन हीयेत भागश्चवाष्टमो नृणाम् ।*
*उपर्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधीः ॥*

विज्ञ पाठकवर्ग ! अव यहां पर पाडेजी के शिथिलाचार पर तनिक विचार करिये। श्लोक में तो उपवास के दिन जल पान करने का निषेध किया गया है और अष्टम भाग नष्ट होना वतलाकर लिख दिया है कि "तस्मान्नीरं त्यजेतसुधीः" अर्थात्—उपवास के दिन पानी पीने से आठवाँ भाग नष्ट हो जाता है, इसलिये विद्वानों को उपवास के दिन पानी का भी सम्पूर्ण त्याग कर देना चाहिये। मगर पांडेजी ने इस सीधे सादे श्लोक पर से अपना शिथिलाचारी भाव निकाल कर लिख दिया है कि यदि हीनशक्तिवाला पानी पीलेवे तो आठवां भाग ही नष्ट होगा और चौदह आने के मुनाफ़े में फिर भी रहेगा।

ग्रन्थकर्ता के श्लोक का यह भाव कदापि नहीं है, किन्तु वह पानी का भी संपूर्ण निषेध कर रहे हैं। मगर चर्चासागर के रचयिता ने अपनी ही बुद्धि से एक प्रश्न खड़ा किया है कि "यदि किसी के ऊपर लिखे अनुसार ( चतुर्विध आहार त्याग करके ) उपवास करने की शक्ति न हो और वह बीच में जल पी लेवे तो उसको कैसा फल लगता है ?" यह शंका उठाकर और उपासकाचार के श्लोक का अनर्थ करके उपवास के दिन पानी पीने का विधान कर दिया है। सामान्य जनता तो पांडेजी के द्वारा प्रमाण में दिये गये संस्कृत श्लोक को देखकर विश्वास कर लेगी और उपवास के दिन पानी पीना शास्त्र-

विहित समझने लगेगी। कारण कि उसे क्या मालूम कि पांडेजी ने निषेध की जगह विधायक अर्थ कर डाला है? चर्चासागर में अनेक जगह पांडे चंपालाल ने इसी प्रकार अर्थ का अनर्थ और प्रमाण का अप्रमाण तथा अप्रमाण का प्रमाण बनाया है। तात्पर्य यह है कि पांडेजी ने अपने मन्तव्यानुसार ही तमाम संग्रह किया है।

पांडे जी जिस बागड़ प्रान्त के निवासी थे उस प्रान्त में अनेक स्त्रीपुरुष अभी भी उपवास के दिन पानी पी लेते हैं, इसी रिवाज के अनुसार आपने तोड़ मरोड़ कर उसे शास्त्रीय विधान सिद्ध कर डाला! पांडे जी जब प्रश्नोत्तरोपासकाचार का प्रमाण देकर उपवास के दिन पानी पीलेने की शिथिल प्रवृत्ति को विधेय बतला रहे हैं तब आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के उन्नीसवें परिच्छेद में उपवास के दिन पानी की एक बूंद भी पीने की मनाई की गई है। जिन पं० लालारामजी ने उक्त प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की हिन्दी भाषा की है, उन्होंने पांडेजी के चर्चासागर का भी भाषान्तर किया है। जैसे प्रश्नो० श्रा० के अनुवाद कराई के रुपये श्रीमान् कापड़ियाजी ने दिये थे, उसी प्रकार चर्चासागर के भाषान्तर करने में भी आपको २००) मिले हैं। फिर समझ में नहीं आता कि आपने सत्य सिद्धान्त को क्यों छिपाया? क्या आप आचार्य सकल कीर्ति की अपेक्षा पांडेजी की मनोनीत रचना को अधिक प्रमाण मानते हैं? यदि नहीं तो आपका कर्तव्य था कि अन्य फुट नोटों की भांति इसके नीचे भी एक नोट करते कि आ० सकलकीर्ति महाराज ने उपवास के दिन पानी की बूंद लेना भी मना किया है। मगर खेद है कि आपने ऐसा नहीं किया।

जहां २ पर पं० लालाराम जी के मन्तव्यानुकूल बातें आई हैं वहां २ तो आपने लम्बे २ फुटनोट लगा दिये हैं।

जैसे मुनियों के मन्दिरनिवास के प्रकरण में आपने भी लिख दिया है कि "आजकल बहुत से लोग मुनियों के जिनालय में निवास करने पर नुकताचीनी करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है"। दूसरी जगह आपने जपासन के विषय में लिखा है कि "आजकल जो चटाई आदि के आसन पर पूजा-जपादि करते हैं वह ठीक नहीं है"। ऐसे ही अनेक नोट किये हैं, मगर आश्चर्य है कि आपने जानते हुये भी इस शिथिलाचार के नीचे कोई टिप्पणी नहीं की! अस्तु—

अब उपवास के दिन जलपान के विषय में आचार्य-सकलकीर्ति की सम्मति पर पाठक ध्यान देवें—

सर्वाशनं च पानं च खाद्यं स्वाद्यं त्यजेद् बुधः।
उपवास दिने मुक्त्यै कृत्स्नमाहार मंजसा ॥१९।५॥

अर्थात्—'विद्वानों को मुक्त्यर्थ उपवास करने के दिन अन्नपान खाद्य स्वाद्य आदि सभी प्रकार के आहार का संपूर्ण रीति से त्याग कर देना चाहिये। यहां जब संपूर्ण रीति से अन्न और पान का त्याग कहा है तब पानी कैसे लिया जा-सकता है। यदि इतने से समाधान न हो सके तो आगे आचार्य ने और भी स्पष्ट लिखा है कि—

उपवासदिने धीरैः ग्राह्यं नीरं न खण्डकम्।
उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्रोद्भुत साहसम् ॥१९-५॥

अर्थात्—'धीर पुरुषों को अद्भुत साहस प्रगट करके उपवासके दिन पानी की एक बूंद भी नहीं लेना चाहिये।' पाठक विचारलें कि 'पानी की बूंद भी न पीवें' इतनी स्पष्ट आज्ञा होते हुये पांडे चम्पालाल का शिथिलाचार कैसे मान्य किया जा सकता है? बड़े दुःख का विषय है कि पांडे चम्पा-

लाल के इस शिथिलाचार के समर्थन करने में न तो भाषा-न्तरकार ने ही कोई विचार किया और न चर्चासागर के प्रचा-रक संघ ने ही अभी तक कोई इस विषय में अपना निषेध प्रगट किया है।

भाषान्तरकार की चालाकी—पं० लालाराम जी ने उक्त चर्चा के समाधान में कुछ परिवर्तन करके प्रश्नोत्तर को सुसंगत बनाने का प्रयत्न किया है। हस्तलिखित प्रति में तो है कि "हीनशक्ति वाला उपवास के दिन जलपान करै है ताकै अष्टांश फल का क्षय होय है"; ऐसा लिखकर हीनशक्ति को जल पीने का नियम सा बना दिया गया है। इसकी रक्षा के लिये भाषान्तरकार ने पृ० ३५ पर लिखा है कि "यदि हीन शक्ति वाला उपवास के दिन जल पीले तो ···· "। यहाँ 'यदि पीले' और 'जलपान करै हैं' में पाठक अन्तर को समझ सकते हैं। हालाँ कि दोनों की इच्छा उपवास में जलपान कराने की है, मगर अन्य शास्त्र पानी की बूंद तक लेने का निषेध कर रहे हैं। जिनका उद्देश्य ही शिथिलाचार फैलाने का है उनके लिये क्या किया जाय?

## पंचामृताभिषेक।

चर्चा ३७ पृ० ३६—में लिखा है कि "सबसे पहिले जलादिक पंचामृत से भगवान अरहंत देवका स्नपन वा अभि-षेक करना सो पहिली क्रिया है"। इसी के नीचे फुटनोट लगाते हुये पं० लालाराम जी ने लिखा है कि "दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधि ये पाच अमृत कहलाते हैं। इनसे विधि पूर्वक अभिषेक करना पंचामृताभिषेक कहलाता है।"

पाडेजी ने पंथीय पक्ष में अन्ध होकर शुद्धाम्नाय को नीचा दिखाने के खास इरादे से कई जगह अंट शंट लिखमारा

है। उनका समर्थन करने में पं० लालाराम जी ने भी कमी नहीं रखी है। पंचामृताभिषेक की भांति चर्चासागर में कई जगह सचित्त (पुष्पादि) पूजन, रात्रिपूजन, खड़े होकर पूजन चन्दनचर्चा आदि का समर्थन किया है। हमें इसका तनिक भी खेद नहीं है। मगर दुःख तो इस बात का है कि इन सावद्य क्रियाओं के विरोधी शुद्धाम्नायको इसके साथ ही साथ गालियां भी दी गई हैं। शुद्धाम्नायियों (तेरह पंथियों) को मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और अभव्य तथा न जाने क्या २ लिखा गया है। इन सबका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा।

यदि सच पूछा जाय तो मेरी इच्छा यह कदापि नहीं है कि तेरह पंथ और बीस पंथ की प्रशान्त वह्नि पुनः प्रज्वलित हो उठे। मगर दूसरी ओर से प्रगट की गई इस जघन्य कृति (चर्चासागर) से समाज को सचेत कर देना एक पवित्र कर्तव्य मालूम होता है। जब मैंने या मेरे सहयोगी झांझरी जी तथा अन्य विद्वानों ने चर्चासागर की आर्ष विरोधी बातों का जनता को दिग्दर्शन कराया तब कुछ पंडितों ने चिल्ल-पों मचाना शुरु कर दी! पं० मक्खनलाल जी ने तो अपने ट्रैक्ट में समाज को भड़काने का काफी प्रयत्न किया है। और कई जगह लिख मारा है कि विरोधी लोग तेरह-बीस में झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं! इत्यादि।

यह बात तो 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' वाली कहावत सी होगई है। कारण की तेरह-बीस में पंथीय आग लगा देने का प्रयत्न तो पं० मक्खनलाल जी और उनकी कंपनी ने ही किया है। यदि यह बात नहीं है तो—

१—शुद्धाम्नाय के कट्टर विरोधी चर्चासागर को प्रकाशित करने की अभी क्या आवश्यक्ता थी?

२—तथा इसके पूर्व भी तेरह पंथ की निन्दा करने

वाले और उसे नीचा दिखाने वाले 'सूर्यप्रकाश' को छपा कर उसके प्रचार करने की क्या आवश्यकता थी ?

३—इन दोनों ग्रन्थों को बांट कर तथा संघ की मार्फत मुफ्त प्रचार करके सारे भारत में थोड़े ही समय में क्यों प्रचार कर डाला गया ?

४—क्या इसी प्रकार किसी दिगम्बराचार्यकृत शुद्ध शास्त्र का भी प्रचार आचार्य संघ ने कराया है ? यदि नहीं तो फिर कहना होगा कि शुद्धाम्नाय को कुचल देने के लिये ही यह सब षड्यन्त्र रचा गया है।

५—आचार्य शान्तिसागर जी का संघ उत्तर हिन्दुस्थान में शुद्धाम्नायी ( तेरह पंथी ) दि० जैनों की वस्ती में जाकर पंचामृताभिषेक, पुष्प से पूजन, प्रतिमाजी को चन्दन लगाने आदि का प्रचार क्यों करता है ? जहां २ जाते हैं वहां पर यह शुद्धाम्नाय विरुद्ध क्रियायें अवश्य कराई जाती हैं। विचारी भोली जनता इसके अन्तस्तत्व को नहीं जानती है कि यह शुद्धाम्नाय को कुचल देने का प्रयत्न हो रहा है।

जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारा करता है, उसी तरह संघ के साथ रहने वाली त्यागी एवं पण्डित मण्डली भी शुद्धाम्नाय को छोड़ कर सर्वत्र सावद्य क्रियाओं के प्रचार में संलग्न रहती है। मुझे जहां तक स्मरण है ललितपुर में आ० शान्तिसागर संघ के चातुर्मास के समय कट्टर तेरह पंथी शुद्धाम्नायी भाइयों को पंचामृताभिषेक, पुष्पादि पूजन और बैठ कर पूजन आदि करने के लिये बाध्य किया जाता था। एक भाई के इन्कार करने पर उसे डाटा भी गयाथा। तब उसने भय-भीत होकर आम्नाय-विरुद्ध पूजा की थी ! जिसके फलस्वरूप वहां के पंचों ने उक्त भाई को दण्डित किया था। दण्ड स्वीकार करलेने के कारण वह विचारा संघ द्वारा फिर डाटा गया था।

तात्पर्य यह है कि आचार्य शान्तिसागर जी का संघ उत्तर हिन्दुस्तान में घूम कर शुद्धाम्नाय के विरुद्ध निरंतर प्रचार कर रहा है; फिर भी पण्डित मक्खनलाल जी एण्ड कम्पनी का कहना है कि विरोधी लोग चर्चासागर का विरोध करके तेरह बीस का झगड़ा खड़ा कर देना चाहते हैं। इस न्याय पर हमें बहुत ही आश्चर्य होता है। अस्तु—

अब मूल बात पर आइये, पंचामृताभिषेक के गुनगान जो चर्चासागर के पृष्ठ ३६ और ४३२ पर किये गये हैं उन पर शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दृष्टि से विचार करिये। आप जानते हैं कि जन्माभिषेक और राज्याभिषेक, यह दो अभिषेक प्रसिद्ध हैं। इन अभिषेकों में दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधि आदि से किसी महाराजा को स्नान कराया जाय तो क्या वह ठीक मालूम होगा? यदि नहीं, तो भगवान का अभिषेक इन वस्तुओं से कैसे किया जासकता है? दूसरे बात यह है कि अभी जो प्रतिमाजी का अभिषेक किया जाता है उसमें जन्म कल्याणक की कल्पना करना भी ठीक नहीं है। कारण कि जिन प्रतिमा जी को पंचकल्याणक करके विराजमान किया जा चुका है उनमें फिर जन्मकल्याणक की कल्पना कैसे हो सकती है? कारण कि दीक्षा लेने के बाद इन्द्रादिकों के द्वारा भगवान का गर्भोत्सव या जन्मोत्सव नहीं किया जाता है। यदि हम सामान्य (दैनिक) पूजा में भी जन्म कल्याणकादि की कल्पना करने लगें तो फिर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव की भांति भगवान को अभिषेक के पश्चात् वस्त्राभूषण भी पहिनाना होंगे और फिर निर्वाण तक की तमाम विधि करना होगी। इसलिये प्रतिदिन जो पूजा के पहिले प्रक्षाल किया जाताहै उसमें जन्माभिषेक की कल्पना करना युक्त नहीं है।

पद्मपुराण में जो पंचामृताभिषेक का विधान है वह

काष्ठ की प्रतिमा की रक्षा के लिये काष्ठासंघ में किया गया है। अन्य प्रतिमाओं का पञ्चामृताभिषेक युक्त नहीं है।

मूलसंघ में दिगम्बराचार्यकृत किसी भी ग्रन्थ में पंचामृताभिषेक करने का विधान नहीं है, प्रत्युत जलाभिषेक करने का ही वर्णन पाया जाता है। महाग्रन्थ आदिपुराण सर्वमान्य है। उसमें भगवान ऋषभनाथ के जन्माभिषेक और राज्याभिषेक के समय जलस्नान का ही वर्णन कई श्लोकों में किया गया है। पञ्चाम्रताभिषेक का नाम तक नहीं है। यथा—

शातकुंभ मयैः कुंभैरंभः क्षीरांबुधेः शुचिः।
सुराः श्रेणीकृतास्तोषादानेतुं प्रसृतास्ततः ॥१३-११०॥

अर्थात्—श्रेणीबद्ध देव स्वर्णमयी कलशों द्वारा क्षीर समुद्र का जललेने को संतोषपूर्वक निकल पड़े।

पूतं स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितं।
नान्यदस्तिजलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते॥१३-१११॥

अर्थात्—'देवों ने विचार किया कि भगवान स्वयंभु स्वयं पवित्र हैं, उनका रुधिर भी दूध के समान शुभ्र है। इस लिये उनके शरीर को स्पर्श करने के लिये क्षीरसागर के जल के सिवाय अन्य कोई योग्य नहीं है।' फिर समझ में नहीं आता कि भगवान को दूध दही घी और गन्ने के रस से अभिषेक कराना कैसे युक्तियुक्त माना जाय।

मत्वेति नाकिभिर्नूनमनून प्रमदोदयैः।
पञ्चमस्यार्णवस्यामः स्नानीयमुप कल्पित ॥१३-११२॥

अर्थात्—'इस प्रकार विचार करके देवों ने हर्ष के साथ पांचवें क्षीरसागर का जल लाना निश्चित किया।' इसके बाद

देवगण कलशों में जल भर कर आगये और अभिषेक करना प्रारम्भ कर दिया। इस वर्णन में भी जलाभिषेक का ही कथन है। यथा—

सैषाधारा जिनस्याधिमूर्द्ध रेजे पतंत्यपां।

*हिमाद्रेः शिरसीवोच्चैरच्छिन्नांबुधुंनिम्नगाः ॥१३-१२०॥*

अर्थात्—भगवान के मस्तक पर पड़ती हुई वह जल की धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों हिमवान पर्वत के मस्तक पर वड़े ऊंचे से अखण्ड जल से पड़ती हुई आकाश गङ्गा ही हो।

इसके अतिरिक्त और भी इसी तेरहवे अध्याय में अभिषेक सम्बन्धी अनेक ऐसे श्लोक पाये जाते हैं जो जल को ही प्रशंसनीय बतला रहे हैं। विस्तारभय से उन सभी श्लोकों को उद्धृत न करके श्लोक नम्बरसहित उनके जलद्योतक वाक्य ही लिखे जाते हैं। यथा—

कलशैरम्बु संभृतैः (१२१) विरेजुरप्छटा दूरम् (१२३) स्नानांभः शीकरोत्कराः (१२५) जलधाराःस्फुरन्तिस्म (१२६) धाराः क्षीरार्णवांभसां (१२७) जलानि जहसुर्नूनं (१२८) तेनांभसा सुरेन्द्राणा पृतनाः प्लाविताः क्षणं (१३१) तदंभः सममापतत् (१३२) स्वच्छशोभमभाज्जलं (१३४)।

इस प्रकार से जन्माभिषेक के समय जल का वर्णन करने वाले अनेक वाक्य हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि आदिनाथ भगवान के जलाभिषेक का वर्णन आदिपुराण के पर्व १३ में श्लोक १०५ से २०० तक किया है। वह सब यहा लिखना अशक्य है। इस महाभिषेक के वर्णन में दूध दही और घी तथा गन्ने के रसका नामोनिशान तक नहीं है। फिर न जाने क्यों पंचामृताभिषेक का हठ किया जाता है?

यह तो साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक का वर्णन है, इसलिये संभवतः कोई यों कह सकता है कि मूर्ति का तो पञ्चामृताभिषेक होना ही चाहिये। सो भी ठीक नहीं है। कारण कि सिद्धान्तसार में अकृत्रिम जिनविम्ब के जलाभिषेक का ही वर्णन आया है। यथा—

कनत्कांचनकुंभस्य निर्गतैः निर्मलांवुभिः।
महोत्सवशतैर्वाद्यैर्जय-कोलाहलस्वनैः ॥७०॥
नित्यं प्रकुर्वते भूत्या विघ्नविघ्नहरं शुभम्।
जिनेन्द्र दिव्यविम्बानां गीतनृत्यस्तवैः सह ॥७१॥

देवेन्द्रगण गीतनृत्य स्तवन सहित, सैकड़ों उत्सव एवं कोलाहल शब्दोंसे युक्त कान्तिमान स्वर्ण कलशोंसे निकलते हुये निर्मल जल के द्वारा विघ्नों को नाश करने वाला जिनेन्द्र भगवान के दिव्य विम्बों का अभिषेक नित्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कृत्रिम प्रतिमाओं का अभिषेक भी आदिपुराण में जल के द्वारा किया गया बताया है। यथा—

*हिरण्मयीर्जिनेन्द्रार्चास्तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः।*
देवेन्द्राः पूजयन्तिस्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥२२-९८॥

अर्थात्—मानस्तंभ में विराजित स्वर्णमयी जिनेन्द्रभगवान की प्रतिमाओं का अभिषेक देवेन्द्रों ने क्षीरसमुद्र के जल से किया।

इसी प्रकार कृत्रिम एवं अकृत्रिम प्रतिमाओंके जलाभिषेक का वर्णन अनेक जगह पाया जाता है। भगवज्जिन सेनाचार्य और गुण भद्राचार्य तथा अन्य मूलसंघ के दिगम्बराचार्योंने कहीं भी पंचामृताभिषेक का नाम तक नहीं लिखा है। तब क्या इन महान् आचार्यों की आज्ञा का उल्लंघन करना योग्य है?

जिस प्रकार भगवान के जन्माभिषेक में पंचामृत का कोई विधान नहीं है उसी प्रकार आदिपुराण में राज्याभिषेक के समय भी उसका कोई नाम तक नहीं लिखा गया है। मात्र जलाभिषेक का ही वर्णन है। यथा—

ततोभिषेचनं भर्त्तुः कर्त्तुमारेभिरेऽमराः।
शातकुम्भविनिर्माणैः कुंभैस्तीर्थाम्बुसंभृतैः ॥ १६–२०८ ॥

अर्थात्—तदनन्तर देवों ने तीर्थ के जल से भरे हुए स्वर्णमयी कलशों से भगवान ऋषभदेव का अभिषेक करना प्रारंभ कर दिया।

गंगा सिंध्वोर्महानद्योरप्राप्य धरणीतलं।
प्रपाते हिमवत्कूटाद्यदंनु समुपाहृतं ॥१६–२०९॥

अर्थ—राज्याभिषेक के लिये गंगा और सिंधु नदियों का ऐसा स्वच्छ जल लाया गया था जो हिमवान् पर्वतकी शिखर से धारा रूप में नीचे पड़ रहा था तथा पृथ्वी तल को जिसने छुआ तक नहीं था।

यच्च गांगं पयः स्वच्छं गंगाकुंडात्समाहृतं।
सिंधुकुंडात्समानीतं सिंधोर्यत्कमपंककम् ॥ १६–२१० ॥

अर्थ—अभिषेक के लिये गंगाकुंड से गंगानदी का और सिंधु कुंड से सिंधु नदी का निर्मल जल लाया गया था।

शेषव्योमापगानां च सलिलंयदनाविलं।
तत्तत्कुंडतदापातसमासादितजन्मकं ॥ १६–२११ ॥

अर्थ—इसी प्रकार पर्वतों से पड़ती हुई सब नदियों

का जल लाया गया था तथा जिन २ कुंडों में नदियाँ पड़ती थीं उनका भी निर्मल जल लाया गया था।

इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिषिक्तो जगद्गुरुः ।
स्वयं पूततमैरंगैरपुनात्तानि केवलं ॥ १६--२१६ ॥

अर्थ—इस प्रकार लाये गये जलसे जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव का अभिषेक किया गया था। भगवान का शरीर तो स्वयं पवित्र था, तथापि उनने उस जल को अवश्य ही पवित्र कर दिया था।

इस प्रकार भगवान के राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन आदिपुराण में पाया जाता है, जिसमें जलाभिषेक का ही विधान है। दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधि इन पांचों के द्वारा न तो जन्माभिषेक किया गया है और न राज्याभिषेक ही किया गया है। फिर भी जलाभिषेक करने वाले शुद्धाम्नायियों की मज़ाक उड़ाना, उन्हें अज्ञानी आदि लिखना, द्वेष एवं मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

आगे चलकर पृ० १६३ पर पांडे जी ने तीसरी पंक्ति में स्वयं भी लिखा है कि "सिंहासनों पर विराजमान करके इन्द्र बड़े उत्सव के साथ क्षीरसागर के जल से भगवान का अभिषेक करता है"। फिर समझ में नहीं आता कि आप पंचामृताभिषेक किस समय की क्रिया मानते हैं !

चर्चासागर के पृ० ४३२ पर जो पांडेजी ने एक अद्भुत व्याप्ति घटाई है उस पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये। आप लिखते हैं कि "समस्त तीर्थङ्करों की प्रतिमायें पञ्चकल्याणकमयी ही होती हैं, इसलिये उनका पञ्चामृताभिषेक किया जाता है। जो कोई ज्ञानकल्याणक व तपकल्याणकमय मानते हैं सो सब मिथ्या है"। यह पञ्चामृताभिषेक का

गठजोड़ा पञ्चकल्याणक के साथ देखकर किसे हंसी न आयेगी? प्रतिमाजी का जन्माभिषेक करना तो दूसरी बात है मगर जिनमन्दिर में विराजमान उस दिगम्बर जिनप्रतिमा को हर समय पांचों कल्याणकमय मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जासकता। कारण कि यदि पांचों कल्याणकमयी प्रतिमा मानना हो तो उसे जन्माभिषेक समय के तमाम वस्त्राभूषण भी पहिनाना होंगे। भगवान की मूर्ति को तिलक लगाना होगा, मालाओं का मुकुट पहिनाना होगा, नेत्रों में अञ्जन लगाना होगा, कानों में कुंडल पहिनाना होंगे, कण्ठ में मणियों की माला पहिनाना होगी, केयूर कटक अङ्गद आदि आभूषण पहिनाना होंगे, और नाना वस्त्रों से सुसज्जित करना होगा। कारण कि जन्म कल्याणक के समय इन्द्राणी ने भगवान का यह सब संस्कार किया था। ( देखो आदिपुराण पर्व १४ श्लोक ५ से १५ )।

जब सर्वदा पञ्चकल्याणकमयी मूर्ति पांडे जी को मानना अभीष्ट है तब सर्वदा यह जन्म समय के वस्त्राभूषण रहेंगे ही। तब उस समय तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक या निर्वाणकल्याणक कैसे माना जायगा ? कारण कि वहां तो दिगम्बर मुद्रा होना चाहिये। और यदि ज्ञानकल्याणक या निर्वाण कल्याणक की मूर्ति मानी जावेगी तो वस्त्राभूषण नहीं रह सकेंगे, इसलिये जन्मकल्याणक को मूर्ति कैसे मानी जावेगी ? यह तो सम्यग्दृष्टि (!) पांडेजी या उनके गोबरपंथी भक्त ही जानें। यदि उन्हें भगवान को वस्त्राभूषण पहिनाना अभीष्ट है तब तो श्वेताम्बर दिगम्बरों का भी झगड़ा मिट जायगा ! कारण कि वे ऐसी ही मूर्ति को मानते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि तब वीतरागी दिगम्बर मुद्रा नहीं रह सकेगी। इस उधेड़बुन पर विचार करने से मालूम होता है कि पांडे चम्पालाल ने

अपनी मिथ्याबुद्धि से ही ज्ञानकल्याणक और तपकल्याणक-मयी मूर्ति मानने वाले को मिथ्या लिखा है।

यदि पांडेजी ने विवेक बुद्धि से काम लिया होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि पंचामृताभिषेक या शतामृताभिषेक का अन्य कल्याणकों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर इस मामूली बात पर विचार न करके पंथीयपक्ष में अन्ध होकर पंचामृताभिषेक को सिद्ध करने के लिये उसका पंच कल्याण-कों के साथ बेहूदा गठजोड़ा बाध दिया है। यदि सचपूछा जाय तो मूर्त्ति समवशरणस्थ जिनेन्द्र भगवान की बनाई जाती है, जिसे पांडेजी ने मिथ्या लिखने की धृष्टताकी है। पं० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में समवशरणस्थ मूर्ति के दर्शन वन्दन एवं चिन्तवन का वर्णन किया है। यथा—

*सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः ।*

*चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥ ६-१० ॥*

अर्थात्—यह वही समवशरण है, यह वही जिनेन्द्र भगवान हैं, वे ही सभासद हैं, इत्यादि विचार करना चाहिये। टीका में भी ज्ञान कल्याणक की मूर्ति का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जिसे पांडे जी मिथ्या कहते हैं। यथा—'अयं प्रतिमार्पितो जिनःस आगमप्रसिद्धोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिविभूति भूषितोऽर्हन्' अर्थात्—यह प्रतिमा में माने गये जिनेन्द्र भगवान वही आगम में कहे गये अष्टप्रातिहार्यादि विभूति से युक्त अर्हन्त भगवान हैं।

अब विचार करिये कि मन्दिर में मूर्ति पांचों कल्याणक से युक्त होती है या ज्ञान-केवल कल्याणक वाली? पांडेजी की विद्वत्ता और उनका ज्ञान एवं आगम तो निराला ही है। मगर दुःख तो इस बात का है कि अपने को जैन सिद्धान्त शास्त्री मानने वाले कुछ विद्वान व्यक्ति चर्चासागर को अभी तक आगम-

वाक्य क्यों मानते हैं? उसमें अनेक मिथ्यात्व, अनाचार, आगम-विरोध और युक्ति हीनता देखते हुये भी उससे मोह क्यों नहीं छोड़ते? यह सब विचार करते हुए कहना पड़ता है कि "माहात्म्यमिदं महामोहस्य"।

## सवस्त्र दिगम्बर!

चर्चा ४२ पृष्ठ ४०—में पांडेजी ने नैष्टिक तथा वानप्रस्थ आश्रम वाले ब्रह्मचारियों को सफ़ेद या कषायले रंगकी लंगोट और वस्त्र आदि रखने का नियम बतलाया है। और फिर भी उन्हें दिगम्बर (नग्न) लिखा है। आप लिखते हैं कि "शास्त्रों में दश प्रकार के नग्न बतलाये हैं, जो कोपीन पहिने वह भी नग्न है, जो कषायले रंग के (भगुवा) रंगे वस्त्र पहिने सो भी नग्न है, जो खण्डवस्त्र पहिने सो भी नग्न है, जो दूसरे के उतरे हुये वस्त्र पहिने सो भी नग्न है, जो अपवित्र वस्त्र पहिने वह भी नग्न है, जो मैले वस्त्र पहिने वह भी नग्न है, जो भीतर कच्छ लगावे बाहर से न लगावे वह भी नग्न है, जो बाहर कांछ लगावे भीतरी कांछ न लगावे वहभी नग्न है, जिसकी कांछ छूटी रहे वह भी नग्न है तथा जो साक्षात् नग्न है वह नग्न हैही। इस प्रकार दश प्रकार के जो नग्न बतलाये हैं उनमें रंगे वस्त्रों का पहिनना भी नग्नता के लिये कहा है! इस लिये गेरुवा वस्त्र की भी कौपीन आदि बतलाई है"। प्रमाण के लिये अपने बड़े भाई त्रिवर्णाचार के निम्न श्लोक उद्धृत किये हैं—

*अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्द्धपटः स्मृतः।*
*नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ॥३-२१॥*
*कषायवाससा नग्नो नग्नश्चोत्तरीयवानपि।*
*अन्तःकच्छो वहिःकच्छो मुक्तकच्छस्तथैवच ॥३-२२॥*

इस कथन से ही पाठकगण पांडे चम्पालाल की मनोवृत्ति का पूरा पता लगा सकेंगे। पांडे जी पूर्ण भट्टारकभक्त थे। मात्र उन्हींको पूज्य और दिगम्बर साधु सिद्ध करने के लिये यह प्रयत्न किया है; कारण कि भट्टारक लोग बढ़िया से बढ़िया रेशमी और भगुवा रंगके या लाल वस्त्र पहिनते हैं और वे अपने को नग्न दिगम्बर मुनि कहते तथा कहलवाते हैं। हमें तो पांडेजी की अपेक्षा भाषान्तरकार पं०लालारामजी और चर्चासागर-भक्तों की बुद्धि पर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि वे पवित्र दिगम्बरत्व के विनाशक इस चर्चासागर को कैसे प्रमाण मानते हैं।

जैनियों में तो 'जातरूपधरो नग्नः' अथवा 'जातरूपधारणं नाग्न्यं' यह नग्न की परिभाषा बतलाई गई है, मगर पांडे जी ने भट्टारक-भक्ति में आकर त्रिवर्णाचार के वे श्लोक प्रमाण में रख दिये हैं जो किन्हीं हिन्दू शास्त्रों से उलटपलट कर बनाये गये हैं। कारण कि हिन्दुओं के 'स्मृतिरत्नाकर' ग्रन्थ के श्लोकों से उक्त श्लोक मिलते जुलते हैं। यथा—

नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नो नीलपटस्तथा।
विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च॥
अकच्छः पुच्छकच्छो वाऽद्विकच्छः कटिवेष्टितः।
कौपीनकधरश्चैव नग्नः पंचविधः स्मृतः॥

यदि पाठक विचार करेंगे तो पांडेजी की नग्नत्व की उक्त परिभाषा के अनुसार संसार के सभी मनुष्य नग्न सिद्ध हो जायेंगे। कारण कि वे दस भेदों में से किसी न किसी में अवश्य ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। पेण्ट, धोती, पायजामा, लंगोट तथा जांघिया आदि पहिनने वाले सभी नग्न ही माने जावेंगे। तब तो समस्त संसार दिगम्बर ही सिद्ध हो जायगा! धन्य है पांडेजी की विचित्र बुद्धि को!

आश्चर्य तो यह है कि पांडेजी ने जिस त्रिवर्णाचार के २२ वें श्लोक के 'कषायवाससा नग्नो' पद से भगवावस्त्र पहिनने वाले को नग्न सिद्ध किया है उसी का आगे का २४ वां श्लोक भगवावस्त्र पहिनने का सर्वथा निषेध करता है। यथा—

*कषायधूम्रवर्णं च केशजं केशभूषितम् ।*
*छिन्नाग्रं चोपवस्त्रं च कुत्सितं नाचरेन्नरः ॥३-२४॥*

अर्थात्—जो वस्त्र भगवा हो, धूम्रवर्ण का हो, ऊनी हो, अथवा ऊनी वेलवूटों वाला हो, जिसके कोने कटे हों, और जो ख़राव हो ऐसा वस्त्र नहीं पहिनना चाहिये।

कहीं २ तो पांडेजी की वुद्धि पर बड़ी ही हंसी आती है। आपको थोड़ीसी संस्कृत का ज्ञान था। उन्हें ऐसा विश्वास था कि संस्कृत श्लोकों की भरमार कर देने से चर्चासागर प्रमाणीक ग्रन्थ माना जायगा। इसलिये आपने कई जगह तो विलकुल असंबद्ध, पूर्वा पर विरोधी और विलकुल उल्टा ही सिद्ध करने वाले श्लोक ठोक दिये हैं। जैसे–आप "अपवित्र पटोनग्नः" आदि श्लोक देकर भट्टारकों के भगवा वस्त्रों को दिगम्बरवेष सिद्ध कर रहे थे, उसी श्लोक के नीचे आप लिखते हैं "कि यह प्रकरण और जगह भी लिखा है—

*सुखानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे ।*
*वाल्ये नग्नः शिवो नग्नः नग्नः छिन्नशिखो यतिः ॥*
*नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्र वेष्टनम् ।*
*नग्ना चेयं कथं वंधा सौरभेयी दिने दिने ॥"*

अर्थात्—संभोग में, जन्म समय में, वालकाल में नग्नता होती है। शिव भी नग्न हैं और यति अवस्था में भी नग्नता होती है। संसार में नग्नता स्वाभाविक है और वस्त्र पहिनना

विकार है। नग्न रहने वाली गाय तुम्हारे यहां प्रतिदिन कैसे पूजी जाती है? इत्यादि।

अब पाठक विचार कर सकते हैं कि चर्चा तो वानप्रस्थ और नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वस्त्रों के रंग के विषय में थी, मगर पांडेजी ने कहीं से यह असंबद्ध श्लोक उठाकर व्यर्थ ही धर दिये हैं। इन श्लोकों में तो नग्नत्व की प्रशंसा की गई है। इतना ही नहीं किन्तु पांडेजी के पहिले दस प्रकार के नग्नों का खण्डन किया गया है। कारण कि उन श्लोकों में तो दस प्रकार के वस्त्र पहिनने वालों को नग्न बतलाया गया है, और इन श्लोकों में "विकारो वस्त्रवेष्टनम्" पद देकर वस्त्र का टुकड़ा रखना भी विकार का कारण बतलाया गया है। फिर समझ में नहीं आता कि पांडे जी ने यह श्लोक किसलिये उठा कर रखे हैं! सच बात तो यह है कि वे श्लोकों की भरमार से अज्ञ जनता को भ्रम में डालना चाहते थे। इसीलिये संबद्ध असंबद्ध, सपक्षी विरोधी और जैन अथवा जैनेतर आचार्यों के सैकड़ों श्लोक आपने चर्चासागर में भर दिये हैं। आश्चर्य है कि कुछ गोबरपंथियों को यह विरोध मालूम नहीं पड़ते हैं और चर्चासागर को आगमतुल्य मानते हैं।

## यक्षों की मूर्तियां।

चर्चा ४४ पृ० ४२—में पांडेजी ने यक्ष यक्षिणी आदि की मान्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आप लिखते हैं कि "भगवान अरहंत देवकी प्रतिमा के साथ साथ यक्षादिक की मूर्तियां अनादि काल से चली आरही हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। यह कोई मनकी कल्पना नहीं है, किन्तु शास्त्रोक्त है। अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं में भी इन चिन्हों के रहने का वर्णन है तथा अकृत्रिम प्रतिमाओं की आम्नाय के अनुसार ही कृत्रिम प्रति-

मायें वनाई जाती हैं। इसलिये कृत्रिम प्रतिमाओं में भी यह चिह्न अवश्य होना चाहिये"। पांडेजी ने जिनप्रतिमा के साथ यक्षेन्द्र आदि की मूर्ति होना सिद्ध करने के लिये कहीं के श्लोक उठा कर रखे हैं और उनसे यह सिद्ध किया है कि वीतराग भगवान की मूर्ति के बाईं ओर यक्षिणी और दाहिनी ओर यक्ष तथा नीचे नवग्रह और मध्य में क्षेत्रपाल हो। एवं यक्षादि की मूर्ति सर्वालंकार विभूषित तथा वाहन-सवारी और अवला-स्त्री सहित होना चाहिये! यथा—

वामे च यक्षीं बिभ्राणं दक्षिणे यक्षमुत्तमम्।
नवग्रहानधोभागे मध्येच क्षेत्रपालकम्॥
यक्षाणां देवतानां च सर्वालंकार भूषितम्।
स्ववाहनावलोपेतं कुर्यात्सर्वांग सुन्दरम्॥

पाठक इन श्लोकों पर विचार करके आश्चर्य करेंगे। समझ में नहीं आता कि वीतराग निर्विकार एवं परम शान्त जिनमुद्रा के साथ में किन्हीं यक्ष राक्षसों या सवारी और अवलाओं तथा शनि राहु आदि नवग्रहों की मूर्ति की क्या आवश्यक्ता है? यह तो वीतराग के साथ एक ज़बरदस्त सरागी आडम्बर हो जायगा। सच बात तो यह है कि पांडे जी ने पंथीयदुराग्रह के वश होकर ही इन बातों के सिद्ध करने पर ज़ोर दिया है, अन्यथा जैनधर्म में इनका कोई महत्व नहीं है और न यह आवश्यक ही है। यक्ष यक्षिणी या क्षेत्रपाल पद्मावती कोई प्रातिहार्य तो हैं नहीं! और न यह जिनप्रतिमाके कोई खास लक्षण ही हैं। हां, इनके होने से सरागता अवश्य बढ़ेगी।

भले ही पांडे जी के मंतव्यानुसार इनका अस्तित्व प्रतिमा जी के साथ अनादि अनन्त हो, मगर बहुत प्राचीन मूर्तियां इन आडम्बरों से रहित भी देखी जाती हैं। वर्तमान में तो

प्रायः सभी प्रतिमायें उक्त चिह्नों से रहित बनती हैं, तब क्या उन प्रतिमाओं की पूजा नहीं करना चाहिये ? या वे प्रतिमायें अयोग्य हैं ?

पांडेजी ने प्रतिमा के साथ यक्ष-स्थापनविधि किसी शुभ भावना से लिखी हो सो बात नहीं है। किन्तु आप उनको मनवाना और पुजवाना चाहते हैं, इसीलिये आपने इस प्रकरण में ( पांडेजी के परमपूज्य ) धरणेन्द्र पद्मावती का होना भी परमावश्यक बतलाया है। तथा पृष्ठ ४८ पर लिखा है कि "जो लोग धरणेन्द्र पद्मावती सहित (फणा सहित) श्री पार्श्व नाथ की प्रतिमा से अरुचि करते हैं वे अधोगति के पात्र हैं !!!"

हालांकि हस्तलिखित प्रति में धरणेन्द्र पद्मावती का नाम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु उसमें इस प्रकार है कि "केतेक निन्दक जीव श्री पार्श्वजिन की मूर्ति आदि तैं अरुचि करै हैं सो अधोगति के पात्र हैं"। फिर भी पांडे जी का मतलब मूर्त्ति आदि के आदि शब्द से धरणेन्द्र पद्मावती का अर्थ निकाला जासकता है, किन्तु भाषान्तरकार पं० लालाराम जी की दृष्टि में भो धरणेन्द्र पद्मावती परमपूज्य होंगे; इसीलिये आपने कुछ उलटफेर करके उनका और फणा आदि का नाम स्पष्ट लिखा है। अस्तु—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह केवल मतांधता या पंथान्धता ही है। यदि कोई धरणेन्द्र पद्मावती या यक्ष यक्षिणियों की मान्यता न करे ( कारण कि वे सम्यक्त्वी देव नहीं हैं ) तो उसे अधोगति का पात्र बताना घोर अज्ञान है। आज भारत में ऐसी लाखों प्रतिमायें हैं जिनके साथ यक्षादि के चिह्न नहीं हैं, और ऐसे लाखों जैन हैं कि जो यक्षादि या धरणेन्द्र पद्मावती को नहीं मानते, तो क्या वे सब दुर्गतिगामी हैं ? जबकि पांडेजी या उनके भक्त धरणेन्द्र पद्मावती या

क्षेत्रपालादि को इतना महत्व देते हैं तब जैनागम में इनका कोई विशेष महत्व नहीं है, प्रत्युत निषेध पाया जाता है। यथा सिद्धान्तसार में विदेहक्षेत्र के वर्णन में कहा है कि—

विवाहजातकर्मादौ मंगलेष्वरिवलेषु च।
परमेष्ठिन एवाहो न क्षेत्रपालकादयः॥

अर्थात्—अहो, यहां बड़ा आश्चर्यकारी धर्म का श्रद्धान है कि विवाहजात कर्मादिक समस्त मंगलकार्यों में परमेष्ठी ही मान्य हैं और क्षेत्रपाल आदि रागी द्वेषी देवों की मान्यता नहीं है। जब विदेह में क्षेत्रपाल आदि की मान्यता नहीं है तब क्या वे सभी विदेहवासी दुर्गतिगामी होंगे ?

धरणेन्द्र पद्मावती आदि की अमान्यता केवल विदेह क्षेत्र में ही नहीं किन्तु भारत में भी उनका कोई महत्व नहीं है और न जिन पूजा के साथ उनका कोई आर्ष विधान है। यथा—

वर्तते जिनपूजायां दिनं प्रति गृहे गृहे।
सर्वमंगल कार्याणां तत्पूर्वत्वाद् गृहेशिनाम् ॥३६॥

—उत्तरपुराण।

अर्थात्—अयोध्या नगरी में घर घर में जिनपूजा में दिन व्यतीत होता है, कारण कि गृहस्थों के तमाम मङ्गलकार्य जिनेन्द्र भगवान की पूजा पूर्वक ही होते हैं। यहां पर किसी भी मङ्गलकार्य में धरणेन्द्र या पद्मावती का नाम नहीं है, किन्तु जिनपूजा का ही विधान है।

समझ में नहीं आता कि जैनधर्म (वीतराग धर्म) में रागी द्वेषीधरणेन्द्र पद्मावती या यक्षादि को पांडे जी या उनके अनुयायी इतना महत्व क्यों देते हैं ! पद्मनन्दि पंचविंशतिका में तो स्पष्ट लिखा है कि—

जिनदेवो भवेद्देवस्तत्वं तेनोक्तमेवच ।

यस्येति निश्चयः सः स्यान्निःशंकितशिरोमणिः ॥

अर्थात्—वीतराग जिनेन्द्र भगवान ही देव हैं और जिन-भाषित ही तत्व हैं, इस प्रकार निश्चय रखने वाला निःशंकितों में शिरोमणि है। यहां पर जिनेन्द्र भगवान को ही देव मानने वाले को उच्च बतलाया है तब धरणेन्द्र पद्मावती को देव नहीं मानने वाला अधोगति का पात्र कैसे कहा जा सकता है ?

दूर की बात जाने दीजिये, विद्वज्जनबोधक के पृष्ठ २२५ पर चर्चासागर का ही एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि 'तीन जगत के नेत्र जिनेन्द्र भगवान और व्यंतरादि देवों को पूजादिक विधानों में जो समान देखता है वह दूरवर्ती अधो लोक में जाता है'। यथा—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यंतराद्यश्च देवताः ।

समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ॥

इस श्लोक से पाठक यह न समझें कि पांडेजी व्यंतरादि पूजा के विरोधी थे, किन्तु ऐसे पूर्वापर विरोधी वचन तो उनके चर्चासागर में कई जगह भरे पड़े हैं। इसीलिये तो आपने धर्णेन्द्र पद्मावती की भक्तिवश उसे न मानने वालों को पृष्ठ ४४ पर अधोगति का पात्र लिख मारा है और पं० लालाराम जी ने कुछ नमक मिर्च मिला कर उसे दूसरे रूप में उपस्थित किया है। भाषान्तरकार ने कई जगह ऐसे परिवर्तन करके घोर अन्याय किया है, जिसे विवेकीजन दोनों चर्चासागर का मिलान करके स्पष्ट जान सकेंगे।

## अक्षम्य सैद्धान्तिक भूल ।

चर्चा ४६ पृ० ४४—में पांडे जी ने एक अक्षम्य

सैद्धान्तिक भूल की है। आप लिखते हैं कि "जिस शरीर से केवली भगवान मुक्त होते हैं उसका तीसरा भाग कम हो जाता है। दो भाग प्रमाण सिद्धों की अवगाहना रहती है। जैसे तीन धनुष के शरीर वाले मनुष्य की अवगाहना सिद्ध अवस्था में जाकर दो धनुष की अवगाहना के समान रह जाती है। जो जीव केवल नख केश रहित सिद्धों की अवगाहना मानते हैं सो भ्रम है।"

यहां पर पांडे जी का पाण्डित्य और उनका अभिमान देखने के योग्य है। जब तमाम दिगम्बराचार्यों ने सिद्धों की अवगाहना अन्तिम शरीर से किंचित् ऊन मानी है तब आप ⅔ बतला रहे हैं। और फिर आप बड़े अभिमान के साथ लिखते हैं कि "जो केवल नखकेश रहित मानते हैं उनका भ्रम है"। यह लिखकर पांडे जी ने मूल सिद्धान्त का विरोध तो किया ही है, किन्तु साथ में प्रातःस्मरणीय भगवान कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, नेमिचंद्रसिद्धान्त चक्रवर्ती, तथा विद्यानंदि आदि धुरंधर जैनाचार्यों का घोर अपमान किया है। सिद्धों की अवगाहना अन्तिम शरीर से किंचित् ही कम होती है, इसके सैकड़ों प्रमाण आगम में मिलते हैं। यदि चंपालाल जी द्वारा उद्धृत किये गये सिद्धान्तसार प्रदीपक और त्रिलोकप्रज्ञप्ति के प्रमाण मान्य किये जावें तो क्या समस्त दिगम्बराचार्यों के कथन को अप्रमाण माना जाय? इतना पूर्वापर विरोध तो हो ही नहीं सकता। श्री जिनसेनाचार्य ने हरिवंश पुराण के पृ० १४० पर कहा है कि—

*सिद्धावगाहनाकाश देशो देशोन इष्यते ॥६-१३४॥*

गौतम चरित्र में कहा है कि—

*तत्र सिद्धो विभुर्भाति किंचिदूनान्त्य देहतः ॥५-२५१॥*

गौतमचरित्र की भी टीका चर्चासागर के भाषाकार पं० लालाराम जी शास्त्री ने ही की है, आपने यहां पर तो उक्त श्लोक का अर्थ किया है कि "उनका विशुद्ध आत्मा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार का है।" और चर्चासागर में यही पं० लाला राम जी पांडेजी के स्वर में स्वर मिलाते हुये पृष्ठ ४९ पर एक नोट करते हैं कि—"यह दो भाग का बतलाना घनफल की अपेक्षा है। अन्तिम शरीर का जो घनफल है उससे सिद्ध अवस्था का घनफल एक भाग कम है, क्योंकि पेट आदि शरीर के भीतर का पोला भाग भी उस घनफल में से निकल जाता है!"

इन परस्पर विरोधी दो टीकाओं को देखकर पण्डितजी की शास्त्रीयता पर यह विचार आता है कि आप स्वयं कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं रखते हैं। किन्तु जो जैसी टीका करावे उसके मन्तव्यानुसार रुपया लेकर वैसी कह देना आप अपना कर्तव्य समझते हैं। चर्चासागर में पांडे जी को आचार्य से भी बड़ा बताना था, इसलिये आपने उनके समर्थन में एक नोट लगाकर वकालत करदी है। यदि स्वयं आपका भी यह सिद्धान्त था तो गौतम चरित्र में उक्त टीका के नीचे एक इसी तरह का नोट लगाकर मंडलाचार्य श्रीधर्मचंद्र के कथन का विरोध करना चाहिये था, मगर आपने इतना साहस नहीं दिखलाया! जो विद्यार्थी मात्र द्रव्य संग्रह ही जानता है वह भी कह सकता है कि सिद्धों की अवगाहना चरम शरीर से किंचित् ऊन होती है। मगर पांडेजी ने तो इस सिद्धान्त वाले तमाम दिगम्बराचार्यों से लेकर विद्यार्थियों तक को भ्रम वाला लिख मारा है!

जैन गज़ट के प्रकाशक पं० वंशीधर जी सोलापुर ने जैन गज़ट के वर्ष ३७ अङ्क २ में पांडेजी के सिद्धान्त का समर्थन करने का ही प्रयत्न किया है, और आप लिखते हैं कि

'किंचिदून' का मतलब ½ क्यों न समझ लिया जाय! यह किंचित् की परिभाषा पण्डित जी ने बड़ी ही विचित्र निकाली है। यदि आपको ६०) मासिक वेतन मिलता हो और उसमें से एक तृतीयांश कम करके ४०) ही दिया जाने लगे तो क्या आप इस २०) की कमी को किंचिदून मानकर संतोष कर लेंगे? क्या किसी भी ग़रीब नौकर के २१) की बजाय १४) करके उससे यों कहा जा सकता है कि भाई! तेरा वेतन थोड़ासा ही कम किया है? यदि नहीं, तो फिर प्रकाशक जी क्यों पांडेजी की वकालत करके किंचित् का अर्थ ½ कर रहे हैं? ब्र० शीतलप्रसाद जी ने पण्डितजी की शास्त्रीय युक्ति का जैनमित्र में सप्रमाण एवं सयुक्तिक उत्तर लिखा था, मगर फिर आप उसका कोई खण्डन नहीं कर सके। वह उत्तर इस प्रकार था कि—

"प्रकाशक जैनगज़ट लिखते हैं कि उपागादि ३० प्रकृतियों का सयोगकेवली के अन्त्य समय में नाश होजाता है। तब अन्त में नाशिका आदि अनेक उपांगों के छिद्र थे वे नहीं रह सकते। तब हम पूछते हैं कि क्या सिद्धों का आकार पिचका हुआ रहता है। नाकके प्रदेश सकुच जाने से नाक का आकार व मुख के भीतर के प्रदेश सकुच जाने से मुख का आकार व कान के भीतर के प्रदेश सकुच जाने से कान का आकार व पेट के भीतर के प्रदेश सकुच जाने से पेट का आकार नहीं रह सकता। तब तो बहुत ही विढंगा आकार सिद्धात्मा का हो जायगा।"

"क्या किंचित् ऊन के यह अर्थ हैं? तथा ३० प्रकृतियों में औदारिक शरीर का उदय भी नहीं रहता, तब क्या औदारिक शरीर नहीं रहना चाहिये। कोई संस्थान का उदय भी नहीं रहता है, तब तो चौदहवें गुणस्थान में कोई शरीर का आकार

भी नहीं रहना चाहिये। औदारिक आङ्गोपांग के उदय न होने से उपांग विगड़ जायंगे, ऐसा अर्थ किया जायगा तो औदारिक शरीर भी विगड़ जाना चाहिये, परन्तु अयोग केवली के शरीर व आकार रहता है। तथा शरीरनामा नामकर्म के उदय से ही आत्मा के प्रदेश संकुचित व विस्तृत होते हैं। जब १४ वें गुणस्थान में तैजस कार्माण औदारिक किसी शरीर का उदय नहीं है तव छिद्रों के प्रदेश संकोच होकर कैसे मिल जायंगे ? यह संकोच होना किस कर्म के उदय से होगा ?"

"वास्तव में यह वात नहीं है। अयोग गुणस्थान में आत्मा के प्रदेश न संकुचित होते हैं न फैलते हैं। वहां कोई योग ही नहीं है, न उपांगों के आकार विगड़ते हैं। सिद्धात्मा का आकार पूर्व शरीर प्रमाण सांगोपांग वना रहता है, किंचित् ऊन का अर्थ यह है कि जहां २ आत्मा के प्रदेश नहीं थे इतना आकार कम हो जाता है, जैसे—नख केश व रोओं का व त्वचा पर की एक महीन झिल्ली का।"

इतने मात्रसे भलीभांति समाधान हो जाता है कि मुक्त जीव का आत्मा तुचक कर या पिचक कर ⅓ भाग नहीं रह जाता है, किन्तु नख केशादि के भाग का किंचित् कम मालूम होता है। पांडेजी स्वयं भ्रम में पड़कर दूसरों को भ्रमयुक्त वतला रहे हैं !

## चक्रवर्तियों की संख्या।

चर्चा ६१ पृ० ५३—में चक्रवर्तियों की उत्कृष्ट जघन्य संख्या के विषय में शंका उठाते हुये लिखा है कि "इस ढाई द्वीप में तीर्थंकरों की अधिक से अधिक संख्या १७० होती है तथा जघन्य २० होती है, ऐसा सुनते हैं, परन्तु चक्रवर्तियों की उत्कृष्ट जघन्य संख्या कितनी है" ?

समाधान—"चक्रवर्तियों के होने का सब जगह का कोई खास नियम नहीं है। जो ही सिद्धान्तसार में लिखा है—

जघन्येन जिनाधीशा भवन्ति विंशतिम्मा: ।
चक्राधिपाश्च सर्वत्र नृदेव खचरार्चिता: ॥ ६१ ॥"

न जाने पांडेजी ने इस सीधे सादे श्लोक में से यह अर्थ कहा से निकाल लिया कि "चक्रवर्तियों के होने का सब जगह का कोई खास नियम नहीं है"। आश्चर्य तो यह है कि भाषान्तरकार पं० लालारामजी शास्त्री ने भी पाडेजी के अनुकूल ही खेंचतान कर अर्थ कर डाला है। आपने पृष्ठ ५४ पर टिप्पणी में उक्त श्लोक का इस प्रकार अर्थ किया है कि—"तीर्थंकरों की जघन्यसंख्या २० है, इनके सिवाय देव मनुष्य विद्याधरों से पूज्य चक्रवर्ती भी होतेहैं। भावार्थ-विदेह क्षेत्रमें चक्रवर्तियोंकी संख्या का कोई नियम नहीं है। वे प्रायः सर्वत्र होते ही रहते हैं!"

शास्त्री जी के इस अनोखे अर्थ को देखकर किसे आश्चर्य न होगा? न तो यह श्लोक का शब्दार्थ ही है और न भावार्थ। साथ में ही यह किया गया अर्थ सिद्धान्त से विरुद्ध भी पड़ता है। कारण कि सिद्धान्तशास्त्रों में चक्रवर्तियों की जघन्य संख्या २० बतलाई गई है। यथा—

तित्थद्धसयलचक्की सट्ठिसयं पुह वरेण अवरेण ।
वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो ॥ ६८१ ॥

—त्रिलोकसार ।

अर्थात्—तीर्थंकर, अर्द्धचक्री ( नारायण-प्रतिनारायण ) और चक्रवर्ती प्रथक २ विदेह की अपेक्षा उत्कृष्ट तो १६० होते हैं, जघन्य २०-२० होते हैं और सम्पूर्ण की अपेक्षा उत्कृष्टतया १७० होते हैं।

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती की इस सर्वमान्य गाथा में चक्रवर्तियों की संख्या२० जघन्य बतलाई गई है। और भी इसी के समर्थक कई प्रमाण हैं, फिर भी पाडेजी का यह लिखना कि 'चक्रवर्तियों का कोई ख़ास नियम नहीं है' और भाषान्तरकार का इसी स्वर में स्वर मिला देना कितनी स्वच्छन्दता है! दुःख तो इस बात का है कि वे इस सिद्धान्तविरुद्ध कथन का समर्थन 'सिद्धान्तसार' ग्रन्थ से करने बैठे हैं। किन्तु वास्तव में उसका वह अर्थ भी नहीं है, प्रत्युत वह श्लोक भी २० की संख्या को ही सिद्ध करता है। यथा—

नृदेवखचरार्चिताः ( मनुष्य, देव और विद्याधरों से पूज्य ) जिनाधीशाः (तीर्थंकर) चक्राधिपाश्च ( और चक्रवर्ती ) सर्वत्र ( सब जगह ) जघन्येन ( जघन्यता से ) विंशतिप्रमाः ( बीस ) भवन्ति (होते हैं)।

समझ में नहीं आता कि इस श्लोक में पांडे जी और पण्डित जी को चक्रवर्तियों की २० की संख्या के निषेध की गंध कहां से आगई! इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्रमाण में श्लोक देकर मनमाना अर्थ कर डाला गया है, जिससे जनता संस्कृत श्लोक देखकर चर्चासागर को प्रमाण मान बैठे। हमें तो पांडेजी की इस चालाकी की अपेक्षा भाषान्तरकार पं० लालारामजी की मनोवृत्ति पर अधिक दुःख होता है; कारण कि आपने पांडेजी की सिद्धान्तविरुद्ध हां में हां मिलाई है। हम यह कदापि नहीं मान सकते कि पण्डित जी इस श्लोक का ठीक २ अर्थ नहीं जानते होंगे; कारणकि आप एक अच्छे टीकाकार हैं। परन्तु पांडेजी के अनुकूल ही लिखकर आपने समाज का बुरा किया है। यदि आपने भाषान्तर करने के रुपये लिये थे तो भाषान्तर हूबहू कर देते. मगर उसी सिद्धान्तविरुद्ध कथन के नीचे आपको

अपनी ओर से वैसा ही विरोधी अर्थ करने की क्या आवश्यक्ता थी ?

दुःख है चर्चासागरमें ऐसे ही अनेकों सिद्धान्त-विरोध भरे पड़े हैं, फिर भी अन्ध श्रद्धालु इसे आगम ग्रन्थ मानते हैं। खेद !

## देवायु को घटा बढ़ी।

चर्चा ६२ पृ० ५४—में पांडेजी ने एक और भी सिद्धान्तविरुद्ध कथन लिख डाला है ! और भाषान्तरकार पं० लालाराम जी ने भी उसके स्वर में स्वर मिलाने में कोई कसर नहीं रखी है। इस सैद्धान्तिक चर्चा को विद्वान् लोग वारीकी से पढ़कर इतना तो निश्चय कर सकेंगे कि पांडेजी को जैन सिद्धान्त का गहरा ज्ञान नहीं था।

पाठकगण नीचे के विवेचन से यह वात भलीभांति समझ सकेंगे—

प्रश्न—स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि जीव तथा मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं सो वहां पर दोनों की आयु समान होती है कि हीनाधिक ?

समाधान— जिस जीव के स्वर्ग में ही मिथ्यात्वरूपी शत्रु के नाश होने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है उसको सम्यग्दृष्टि देव कहतेहैं उसके आयुकर्म की जितनी स्थिति है उसमें सम्यग्दर्शनके प्रभावसे घातायुष्क की अपेक्षा आधासागर की स्थिति बढ़ जाती है। यह वृद्धि सहस्रार स्वर्ग तक होती है। इसी प्रकार जिस जीव के सम्यग्दर्शन घात हो और मिथ्यात्व का उदय होजाय तो उस देव की आयुकर्म की स्थिति में आधे सागर की स्थिति घट जाती है। आदि।

विद्वद्वर्ग ! इस जगह भी ग्रन्थकर्ता पाडे चम्पालाल जी सिद्धान्त के कितने विपरीत चले गए। मालूम होता है कि

आपने घातायुष्क के मर्मको बिलकुल नहीं समझा है। तभी तो लिख रहे हैं कि "स्वर्ग में हो जिस जीव के मिथ्यात्वरूपी शत्रु के नाश हो जाने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होतीहै उसको सम्यग्दृष्टि देव कहते हैं; उस सम्यग्दृष्टि देव के सम्यग्दर्शन के प्रभाव से आधासागर आयु बढ़ जाती है, और मिथ्यादर्शन के प्रभाव से आधासागर आयु घट जाती है"। भला विचार किया जाय कि जीव के स्वर्ग में पहुँच जाने पर देव आयु का उदय तो हो ही जायगा, क्योंकि आयुकर्म का उदय तो अपर्याप्त अवस्था में भी हो जाता है, तो पर्याप्तदेव के तो उदय अवश्य ही है। क्योंकि इसका एक कारण और भी है जो कि इसी लेख से ज्ञात होता है कि स्वर्ग में जो मिथ्यात्व का नाश और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी वह पर्याप्त में ही हो सकती है। अपर्याप्त अवस्था में कभी भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती ( सम्यग्दर्शन का सद्भाव रह सकता है), क्योंकि भव्य पंचेन्द्रिय संज्ञक पर्याप्तक ही काललब्धि के सहाय से परिणामों की विशुद्धता से अपूर्वकरणादि करके सम्यग्दर्शन के सन्मुख होता है, ऐसा सिद्धान्तवाक्य है। इससे अच्छी तरह से सिद्ध होता है कि स्वर्ग पहुँचकर देव सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के प्रभाव से उदीयमान आयु को बढ़ा घटा लेते हैं। यह कथन बिलकुल विरुद्ध है, क्योंकि उदीयमान आयु में कभी भी उत्कर्षण ( कर्म की स्थिति अनुभाग का बढ़ना ) अपकर्षण (घटना) नहीं होता। उदीयमान आयु में उदीरणा ही होती है। उत्कर्षण और अपकर्षण बध्यमानायु में बन सकता है, भुज्यमानायु में कभी नहीं बन सकता। जैसाकि त्रिलोक-सार जी के पृष्ट २३३ पर गाथा ५३२ के भावार्थ में स्पष्टरूप से खोल दिया है। यथा—

"जिस जीव ने पूर्वभवविषें पहिले आयु का बंध अधिक

किया था, पीछे परिणामन के वशतें ताको घटाई थोड़ा अणि राख्या, तिस जीवको घातायुष्क कहिए। तातें आयुका घात दो प्रकार है एक अपवर्त्तन घात, दूसरा कदली घात। तहां वध्यमानायु का घटावना सो अपवर्त्तन है, बहुरि उदीयमान आयु का घटावना कदलीघात है। सो यहां कदली घात तो संभवै नाहीं; तातैं अपवर्तन घात का ही ग्रहण किया है। सो ऐसा घातायुष्क होय अर सम्यग्दृष्टि होय तो तिस जीवके पूर्वोक्त उत्कृष्ट आयुतें आधा सागर अधिक आयु सहस्रार स्वर्ग पर्यंत होय है।"

यहाँ पंडितप्रवर टोडरमल जी ने इसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। लेकिन पांडे चम्पालाल जी देवों की उदीयमान आयुका घात कर रहे हैं, जो कहीं भी न तो देखी और न सुनी है। अगर देवों की उदीयमान आयुको घटना मान भी लें तो "औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।" इस सूत्र में बाधा उपस्थित हो जायगी।

इसी प्रकार आगे चलकर आपने चर्चा ६२ में भवनवासी और व्यन्तर देवों की भुज्यमान आयु में घटना बढ़ना लिखा है। यथा—समाधान—"भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी इन तीनों प्रकार के देवों में जो जीव उत्पन्न होते हैं वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना थोड़ा सा व्रत तप करने के पुण्य से इनमें उत्पन्न होते हैं। इनमें भवनवासी देवों के तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से आधे सागर आयु बढ़ जाती है तथा मिथ्यात्व के उदय से आधासागर आयु घट जाती है। इसी प्रकार व्यंतर ज्योतिषी देवों की भी जानना"। देखिये, इस लेख से भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आप कदलीघात को ही घातायुष्क समझ बैठे हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित भवनत्रिक में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, जो इन को भी अभीष्ट है। भवनत्रिक में पहुँच कर फिर यदि सम्यक्त्व पैदा करेगा तो भी आयु बढ़ा सके अ

यह कैसा बिलकुल सिद्धांत-विपरीत कथन है ? ऐसा मानने से तो आयु की ठीक स्थिति का कुछ भी ठिकाना नहीं रहेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और आयु बढ़ गई और मिथ्या-दृष्टि हुआ तो फिर आयु घट गई। ऐसा हर समय होता ही रहेगा, ये बिलकुल असंभव है। क्योंकि मैं पहिले ही लिख चुका हूं कि किसी भी जीव के भुज्यमान आयु में उत्कर्षण अपकर्षण नहीं होता, उदय उदीरणा ही होती है। इसका विवेचन गोम-ट्टसार कर्मकाड में भी अच्छी तरह किया है।

—जैन मित्र अंक ४ वर्ष ३३

इस प्रकार चर्चासागर में अनेक सिद्धान्त-विरुद्ध कथन भरे पड़े हैं। उन सबका खण्डन सर्वसाधारण जनताको रुचिकर नहीं हो सकता, इसलिये यहाँ पर पांडे जी की खास थोथी चर्चाओं की ही समीक्षा की गई है। क्या विद्वत्समाज उक्त सिद्धान्तविरुद्ध चर्चाओं पर विचार करेगी ?

## चमार और बढ़ई का अवतार !

चर्चा ६५ पृ० ५७—में पांडे जी ने एक विचित्र ही कर्मसिद्धान्त का निरूपण किया है। आप लिखते हैं कि "जो लोग पैरों में जूता पहिन कर भगवान के मन्दिर में प्रवेश करते हैं वे सात जन्म तक कोढ़ी होते हैं तथा चमारके घर जन्म लेते हैं और जो लोग खड़ाऊँ पहिन कर जिन मन्दिर में जाते हैं वे बढ़ई के घर जन्म लेकर सात जन्म तक कोढ़ रोग से पीड़ित होते हैं"। पांडे जी विना प्रमाण या संस्कृत श्लोक विना तो बात ही नहीं करते हैं, इसलिये कहीं से दो श्लोक लाकर रख दिये हैं कि—

पादचर्मस्य रूढ़ा ये चढंति श्रीजिनालये।
सप्त जन्म भवेत्कुष्टी चर्मारीगर्भसम्भवः॥

पादुकाभ्यां समागत्य ये चढन्ति जिनालये।
सप्तजन्म भवेत्कुष्ठी वाढीकागर्भसम्भवः॥

अर्थ ऊपर की भांति है। हम इस बात को स्वीकार
करते हैं और सभी मानते हैं कि मन्दिर में जूते या खड़ाऊँ
पहिन कर भीतर नहीं जाना चाहिये। मन्दिर के बाहर तक
तो प्रायः सभी पहिन कर जाते ही हैं। परन्तु यहां पर पांडेजी
की चमार और बढ़ई के यहां अवतार लेने की व्यवस्था बड़ी ही
विचित्र मालूम होती है। कर्मसिद्धान्त के ज्ञाता विद्वानों ने तो
कहीं भी जूते से चमार और खड़ाऊँ से बढ़ई होने का कर्म बन्ध
नहीं देखा होगा। पांडे जी की मान्यता ऐसी होगी कि जूता
चमार के यहां बनते हैं, इसलिये पहिनने वाला चमार के घर
जन्मेगा और खड़ाऊँ बढ़ई के घर बनती हैं, इसलिये पहनने
वाला बढ़ई के घर उत्पन्न होगा। अगर कोई रबर के या कपड़े
के जूते पहिनेगा तो उसका अवतार कहां होगा, यह पाठक
अन्दाज़ा लगा सकते हैं। धन्य है पाडेजी की इस विचित्र कर्म-
व्यवस्था को!

पांडेजी के आराध्य गुरु भट्टारक लोग मन्दिर के भीतर
खड़ाऊं ले जाते हैं, तब क्या पांडेजी के मन्तव्यानुसार उन
सब का जन्म बढ़ई के घर होना चाहिये! पांडेजी को यह बात
मान्य नहीं होगी, कारण कि उन्हों ने अपने गुरु-भट्टारकों की
पादुका जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के बाईं ओर विराजमान
करने का विधान बताया है। यथा—"जिन प्रतिमा के दाईं
ओर सरस्वती की मूर्ति है और बाईं ओर गुरुपादुका विराज-
मान हैं, इसलिये पूजा भी इसी प्रकार करनी चाहिये!"
(पृष्ठ ५७ पंक्ति १७)। पांडेजी की भट्टारकभक्ति का यह एक
नमूना है। आप भट्टारकों को गुरु मानते हैं, और उनकी

पादुका जिनेन्द्रभगवान की बाईं ओर विराजमान करके पूजा करने का विधान बतलाते हैं। इसके लिये न तो कोई प्रमाण दिया है और न कोई युक्ति। मगर इतना ज़रूर बतलाया है कि यदि कोई मन्दिर में खड़ाऊं पहिन कर जावेगा तो मर कर बढ़ई होगा और उस पाप का असर सात जन्म तक कोढ़ के रूप में निकलेगा, परन्तु भट्टारकों की पादुकायें भगवान के पास रखकर पूजना चाहिये! क्या इस स्वच्छन्द कथन का भी कोई ठिकाना है? मनमें जैसा आया सो लिख मारा और बन गये ग्रन्थकार! इतने पर भी तो चर्चासागर भक्त कहते हैं कि यह पांडेजी की स्वतंत्र रचना नहीं है, किन्तु यह तो संग्रह ग्रन्थ है। हम उनसे पूछते हैं कि यह चर्चा कहा से संग्रह की गई है? क्या इसका कोई जवाब है?

## एक और सैद्धान्तिक भूल।

चर्चा ६९ पृष्ठ ५९—पर पांडेजी ने एक शङ्का उठाई है कि "पुलाक आदि मुनिराज के पांच भेद हैं। उनके कौन कौन सा गुणस्थान है?" इसके उत्तर में लिखा है कि—

"समाधान—पुलाक और वकुश इन दो मुनियों के छटा और सातवाँ गुणस्थान होता है। कुशील नामके मुनिराज के आठवें अपूर्वकरण नाम के गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोह नाम के गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। निर्ग्रन्थ नाम के मुनिके क्षीण मोह नाम का बारहवां गुणस्थान होता है और स्नातक के तेरहवां सयोग केवली और चौदहवां अयोग केवली गुणस्थान होते हैं।"

पाठकगण! इस कथनमें भी सिद्धांत-विपरीतता है; इसमें कुशील नामके मुनिके अपूर्वकरण से उपशान्तकषाय ग्यारहवें गुणस्थान तक बतलाया और निर्ग्रन्थ के १२ वां गुणस्थान ही

बतलाया. यह दोनों बातें ठीक नहीं हैं, क्योंकि कुशील दशवें गुणस्थान तक ही होसकते हैं तथा निर्ग्रन्थ ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें ही होसकते हैं, इसका कारण निम्न प्रकार है। यथा—

श्रीमत्पूज्यपादस्वामी विरचित सर्वार्थसिद्धि छपी के अध्याय ९ सूत्र ४६ की टीका में कुशील का लक्षण इस प्रकार कियाहै—कुशीला द्विविधाः। प्रतिसेवना कुशीलाःकषायकुशीला इति। अविविक्त परिग्रहाःपरिपूर्णोभयाःकथंचिदुत्तरगुणविरोधिनः प्रतिसेवना कुशीलाः। वशीकृतान्यकषायोदयाःसंज्वलनमात्रतंत्रा कषायकुशीलाः।" अर्थात् दोनों (मूलगुण और उत्तरगुण) करि निष्पन्न वा परिपूर्ण किसी प्रकार से उत्तर गुण के विराधने वाले हैं सो प्रतिसेवना-कुशील हैं, और संज्वलन कषाय मात्र को धारण करने वाले कषाय-कुशील होते हैं। जब कि कुशील के संज्वलन कषाय पाई जातीहै,फिर भी उनके ग्यारहवाँ गुणस्थान कहना कितनी भूल है ? ग्यारहवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय कहां हैं ? सब उपशम हो रही हैं। वहां तो एक का भी उदय नहीं पाया जाता है। यदि कुशील के ग्यारहवां गुणस्थान माना जायगा तो आचार्य के वचनों में बड़ा भारी अन्तर पड़ता है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है। यथा-गोम्मटसार ( जीवकाण्ड ) छपे हुए के पृ० १७१ गाथा ४७४ में लिखा है—

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमठो व जिणो वा जहखादो संजदो सोदु ॥४७४॥

अर्थ—अशुभ मोहनीय कर्म के अत्यन्त उपशम हो जाने से उपशान्त कषाय ग्यारहवें गुणस्थान में और मोहनीय के क्षय क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है। इस वचन से ग्यारहवें में यथाख्यात चारित्र कहा

है और कुशील के यथाख्यात चारित्र नहीं होता। यथा—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ४७ में "कषायकुशीलाङ्कयोः संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसापरराययोः पूर्वयोश्च।" अर्थात् कषाय-कुशीलके परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म सांपराय ये दो संयम होते हैं। और सूक्ष्म सापराय दशवें तक ही होता है, इसमें वही सूक्ष्म संज्वलन लोभ रह जाता है जो ऊपर कषाय कुशील के लक्षण में कह आये हैं। अतः कुशील दशवें गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते। ग्यारहवें में बतलाना आगम की अजान कारी को बतलाता है।

इसी प्रकार निर्ग्रंथको केवल बारहवा ही बतलाना भी गलत है। वह इसी लिए कि निर्ग्रंथ और स्नातक ये दोनों एक यथाख्यातचारित्रवाले होते हैं और यथाख्यात ग्यारहवें में हो जाता है तो ग्यारहवें और बारहवें वालों को निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त है। पांडे चम्पालाल जी का यह लिखना कि कुशील ग्यारहवें तक होते हैं, निर्ग्रन्थ बारहवें वाले हैं, यह कथन आगम विपरीत है। ( छटे सातवें गुणस्थानों में भी कषाय कुशील होते हैं, आठवें ही से नहीं जैसा कि पांडे चम्पालालजी लिखते हैं। )।

प्रिय महाशय! अब ज़रा इनके पूर्वापर विरोधी वाक्यों पर दृष्टि प्रसार करें। पृष्ठ१०५ चर्चा १११ के समाधान में आप लिखते हैं कि "क्षपकश्रेणी चढ़ने वालों के कोई भी संहनन नहीं होता" और पुनः आगे चलकर आप ही पृ० ३४९ चर्चा २०२ में लिखतेहैं कि "बारहवें तेरहवें गुणस्थानोंमें क्षपकश्रेणीचढ़ने वाले साधुओं के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है"; देखिये कितनी विरुद्धता है ? क्या इन्हीं को आगम-वाक्य कहते हैं ? ऐसे पूर्वापर विरोधी ग्रन्थों को प्रमाणस्वरूप मान कर सर्वज्ञ की वाणी को दूषित करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

( जैनमित्र अङ्क १० वर्ष ३३ )

# पांडेजी का क्रोध !

चर्चा ८१ पृ० ७१—पर शंका की गई है कि "ढाई द्वीप में रहने वाले समस्त विद्याधर तथा चारणऋद्धि को धारण करने वाले महामुनिराज इस चित्रा पृथ्वी से निन्यानवे हज़ार योजन ऊँचे चढ़कर मेरुपर्वत पर जा पहुँचते हैं ऐसी उनकी शक्ति है, परन्तु वे ही विद्याधर और महामुनि १७२१ योजन ऊँचे मानुषोत्तर पर्वत को उल्लंघ कर ढाई द्वीप के बाहर जिन मन्दिरों की वंदना करने के लिये क्यों नहीं जा सकते ?"

पांडे जी इस शंका का योग्य समाधान २-३ पृष्ठ काले करके भी जब न कर सके तो आपको तीव्र तामस आगया है और आपने पृष्ठ ७३ पर लिख डाला है—"जो लोग मानुषोत्तर पर्वत के बाहर भी मनुष्य का गमन मानते हैं उन्हें जैनी नहीं समझना चाहिये ! तथा जो लोग मानुषोत्तर के बाहर तीर्थङ्करों के केशोंका गमन नहीं मानते वे भी मिथ्या दृष्टि हैं ! ......कोई कोई लोग इन केशों को मायामयी मानते हैं सो भी मिथ्या है ।"

इसके लिये पांडेजी न तो कोई आर्ष ग्रन्थ का प्रमाण ही दे सके हैं और न कोई युक्ति ! मगर रोष में आकर "जैनी नहीं समझना चाहिये, वे मिथ्यादृष्टि हैं" आदि लिख मारा है ।

वास्तविक मान्यता तो यों है कि यहां का औदारिक शरीर मानुषोत्तर पर्वतके आगे जाने के योग्य ही नहीं होताहै । कारण कि वहां का वातावरण यहा के औदारिक शरीर के बिलकुल प्रतिकूल होता है । जैसे वर्तमान में नार्थ-साउथ पोल से आगे जाना कठिन है, कारण कि वहां के ठंडे वातावरण से शरीर गल जाता है और छिन्न भिन्न हो जाता है, ऐसा ही या इसी प्रकार का कारण मानुषोत्तर पर्वत के आगे न जा सकने के विषय में होना चाहिये । इसीलिये अनेक विद्वानों की ऐसी

श्रावकाचार में ऐसे देशों के त्याग करने का कोई खास उल्लेख नहीं है, परन्तु वहां पर तो किसी भी अमुकक्षेत्र को मर्यादित बनाने का लक्ष्य है। यथा—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदाव योजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरंति सीम्ना तपोवृद्धाः ॥५-९३॥

अर्थात्—देशव्रत के क्षेत्र की मर्यादा अमुक घर, गली, कटक छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन और किसी योजन तक की गणधर देव कहते हैं। इसी प्रकार आगे के श्लोक में वर्ष, महीना, पक्ष, मास, नक्षत्रादि की मर्यादाकाल की अपेक्षा बतलाई गई है। इसलिये देशव्रती काल की मर्यादापूर्ण होने पर उस देश में जा सकता है। अतः सिद्ध है कि देशव्रत म्लेच्छ या अनार्य देश के त्याग को लक्ष्य लेकर ही नहीं बतलाया गया है। वह तो पांडेजी की मनोकल्पना है।

## रूपसत्य का अन्यथा लक्षण।

चर्चा ८६ पृ० ८०—पर पांडेजी ने नामसत्य आदि दस प्रकार के सत्यों का वर्णन करते हुये गोमट्टसार जीवकांड से विरुद्ध ही लिख डाला है। उसमें भी जो रूपसत्य लिखा है वह तो बिलकुल विरुद्ध है। यथा-"किसी का रूप बनाकर उसे उस नाम से कहना; जैसे किसी ने नरकुंजर का चित्र बनाया और वह मर गया तो उसको नरकुंजर मारा गया, ऐसा कहना सो रूपसत्य है"। इस रूपसत्य में नरकुंजर का दृष्टांत संघटित नहीं होता, क्योंकि रूपसत्य में और स्थापना सत्य में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। स्थापना उसे कहते हैं कि किसी विद्यमान व अविद्यमान वस्तु की तदाकार व अतदाकार मूर्ति बनाकर उसमें उसकी स्थापना करना;

जैसे ऋषभदेव की मूर्ति को ऋषभदेव कहना। देखिए इसमें और रूपसत्य (किसीका रूप बनाकर उसको उस नामसे कहना) में क्या अन्तर है? इस पर पाठकवृन्द स्वयं विचार करलें। गोम्मटसार जीवकाण्ड में रूपसत्य का दृष्टांत "श्वेत" दिया है। जीवप्रदीपका व मन्दप्रबोधनी टीकाकारोंने इसका खुलासा इस प्रकार किया है कि—मन्दप्रबोधनी टीका–चक्षुरव्यवहारस्य प्रचुरत्वात् रूपादिपुद्गलगुणानां मध्येरूपप्राधान्येन तदाश्रितं वचः रूपसत्यमम् यथा कश्चित् पुरुषः 'श्वेतः' इति। तत्र केशनीलादिवर्णांतराणां रसादि वर्णांतराणां च सद्भावेप्यविवक्षत्वात् इति। इसका अर्थ सं० चं० टीका में पण्डित प्रवर टोडरमलजी सा० ने इस प्रकार किया है—बहुरि जो पुद्गल के अनेक गुण होते संते रूप की मुख्यता लिए वचन कहिए सो रूप सत्य है, जैसे पुरुष सफ़ेद है ऐसे कहिए तहां वाके केशादि श्याम व रसादि अन्य गुण पाइये हैं, पर उनकी मुख्यता न करि, आदि। रूपसत्य का वास्तव में यही लक्षण ठीक घटित होता है, कारणकि रूपमें चक्षुके विषय की प्राधान्यता ली गई है। अतः चर्चासागर का रूपसत्य सिद्धान्त-विरुद्ध और घटित न होने से अमान्य है।

## समुद्रों के जल का स्वाद।

चर्चा ६४ पृ० ६२—में समुद्रों के जल का वर्णन करते हुये कुछ अज्ञानपूर्ण प्रश्नोत्तर किये गये हैं। यथा—

प्रश्न—लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र के जल का स्वाद तो खारा व जल के समान मालूम है, परन्तु बाक़ी असंख्यात समुद्रोंके जल का स्वाद कैसा है? इसके समाधानमें पांडेजी लिखतेहैं कि "ऊपर कहे हुए तीन समुद्रोंके सिवाय बाकी के असंख्यात समुद्रों के जल का स्वाद ईख के रस के

समान मीठा और स्वादिष्ट है" ! इसमें फिरसे आपने प्रश्न किया है कि "ईख के रस के समान मीठा तो इक्षुवर समुद्रका है परन्तु यहा पर सब समुद्रों का जल ऐसा मीठा कैसे कहा तथा क्षीरोदधि व घृतोदधिका जल जुदा जुदा बताया है, इसलिये सबका स्वाद एकसा कैसे कहा ?" समाधान-"क्षीरोदधि तथा घृतोदधि आदि समुद्रों के जलका स्वाद नहीं बतलाया है, किन्तु उसका वर्ण बतलाया है।"

यहाँ तो पाडेजी की विद्वत्ताका बिलकुल दिवाला निकल गया है, जो स्वतः प्रमाण रूप में दिए हुए श्लोकों का भी अर्थ आप नहीं समझ पाये और इसीलिये उसे लिख भी न सके।

यह तो हुआ पांडेजी महाराज की बुद्धिमत्ता का नमूना, लेकिन सम्पादक जी महाशय तो पं० लालाराम जी शास्त्री हैं। आपने कई ग्रन्थों की टीकायें कर डाली हैं, उनसे भी एक अपनी तरफका नोट नहीं लगाया गया। जहांपर पंथ पक्ष आया है वहां तो आपने पत्र के पत्र काले कर डाले, परन्तु यहा पर आपकी प्रतिभाने ज़रा भी काम नहीं किया। मालूम होता है कि उस ग्रन्थ का असर ही ऐसा है जिससे सम्पादक जी की बुद्धि भी हैरान है ! इसलिये तो आपने अपना नाम भी प्रगट नहीं किया। प्रियवर पाठक महाशयो ! इस कथन की पुष्टि में पांडेजी ने तीन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है; उसे भी देखिए और अच्छी तरह मिलान कीजिए कि पं० चम्पालाल जी का कथन सत्य है अथवा असत्य। इनके पक्षवाले बड़े ही उन्नतशिर होकर गर्जना करते हैं कि 'पं० चम्पालाल जी ने अपनी तरफ़ से कुछ भी नहीं लिखा, सब आगमोक्त लिखा है', सो आगे आप महाशयों को यह सब पता चल जायगा कि आगम क्या कहता है और पांडे जी महाराज ने क्या लिखा है। पांडे जी ने प्रथम ही प्रमाण स्वरूप गाथा त्रिलोकसार की दी है यथा—

लवणं वारुणितियमिदि कालदुगंति म सयंभुरमणमिदि ।
पत्तेय जलसुवादा अवसेसा होंति इच्छुरसा ॥ ३१९ ॥

अर्थ—लवण समुद्र और वारुणित्रिय ( वारुणिधर, क्षीरवर, घृतवर ) ये चार, कालद्विक ( कालोदधि, पुस्करवर ) और अन्तका स्वयंभूरमण ये तीन, क्रमसे अपने २ नामानुकूल और जल के अनुसार स्वाद को धारण किए हैं। बाकी के समुद्रों का जल ईखके रस के समान है। इसके भावार्थ में पंडितप्रवर टोडरमल जी सा० ने इस प्रकार लिखा है-"लवण समुद्र में जो जल है, ताका स्वाद लवण समान है, वारुणि विषै मदिरावत् है, क्षीरवर विषैं स्वाद दुग्धवत है, घृतवर विषैं स्वाद घृतवत् है ऐसे ये चार तो अपने नामानुसार रसको धरै हैं, और कालोदधि पुस्करवर तथा स्वयंभूरमण इन तीनों विषै जल है ताका स्वाद जल समान ही है। बहुरि असंख्यात समुद्र तिन विषै जो जल है ताका स्वाद सांठेकू रस समान है"। ज़रा विचार कीजिये कि—पाडे चम्पालाल जी का कथन क्या इसी के अनुसार है जिसे आगमोक्त कहा जाय ?

दूसरा प्रमाण चर्चासागर में इस प्रकार दिया है—यही बात मूलाचार के १२ वें अधिकार में लिखी है। यथा—

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसाः ।
अवसेसा य समुद्दा खोद्दरसा होंति णायव्वा ॥ ३८ ॥

अर्थ—चार समुद्र—लवण समुद्र, वारुणिवर, क्षीरवर और घृतवर ये प्रत्येक—अपने नाम के अनुसार रसवाले हैं और तीन—कालोदधि, पुष्करवर और स्वयंभूरमण—जलके समान स्वादवाले हैं, और अवशेष क्षुद्ररस ( ईखरस ) के समान स्वाद वाले मालूम होते हैं।

तीसरा प्रमाण सिद्धान्तसागर प्रदीप में का लिखा है। यथा—

कालोदे पुष्कराम्भोधौ स्वयंभूरमणार्णवे ।
केवलं जलसुस्वादं जलौघ च भवेत् सदा ॥
क्षीराब्धौ क्षीरसुस्वादु सदृशांभो भवेन्महत् ।
घृतस्वादसमास्निग्धं जलं स्याद् घृतवारिधौ ॥
एतेभ्यः सपूर्वाब्धिभ्यः परे संख्यातसागराः ।
भवन्तीक्षुरसास्वाद समाना मधुराः शुभाः ॥

अर्थ—कालोदधि, पुष्करवर, स्वयंभूरमण का जल केवल जलके स्वाद समान है। क्षीराब्धि में उत्कृष्ट स्वादयुक्त दूध के सदृश जल है, घृतवर में घृत के समान स्निग्ध जल है। बाकी के असंख्यात समुद्रों का ईख के रसके समान स्वादवाला जल है। इस श्लोक से तो बिलकुल स्पष्ट सिद्ध होगया है कि इन समुद्रों के जल स्वाद में भेद है। लेकिन इन तीनों श्लोकों में से पांडे चम्पालाल जी को एक का भी अर्थ समझ में नहीं आया। इसीलिये लिखते हैं कि क्षीरवर और घृतवर का स्वाद नहीं बतलाया, किन्तु उनका रूप बतलाया है। अतएव इन श्लोकों को प्रमाणरूप लिखकर स्वसिद्धांत विघातक बन गये। कारण कि इन प्रमाणों में सांठे के रस समान स्वाद स्पष्ट लिखा है।

( जैनमित्र वर्ष २३ अङ्क ४ )

## गंधोदक की विनय।

चर्चा १०४ पृ० ६८—में गङ्गाकारकी ओर से लिखा

गया है कि "थोड़ा सा गंधोदक लेकर मस्तक से लगा लेना चाहिये और फिर हाथ धोडालना चाहिये। क्योंकि यदि गंधोदक के हाथ किसी बुरे पदार्थ से अथवा पांव आदि से लग जावें तो बड़ी अविनय होगी। इसलिये गंधोदक लगाकर हाथ धोडालना अच्छा है।"

इस सीधी सादी एवं युक्तिपूर्ण बात के विषय में पांडेजी लिखते हैं कि "यह कहना ठीक नहीं है, यह कहना कपोल कल्पित और अज्ञान भरा हुआ है।" इत्यादि। पांडेजी ने इसे कपोल कल्पना और अज्ञान मात्र इसीलिये लिखमारा है कि शुद्धाम्नायियों में गंधोदक की पूर्ण विनय की जाती है। वे एक बूंद भी अपवित्र स्थान में नहीं पड़ने देते, और न गंधोदक युक्त हाथ अपवित्र जगह में लगाते ही हैं, किन्तु हाथ धो डालते हैं। यह तेरह पंथानुयाइयों की यथार्थ बात भी पांडेजी कैसे मान सकते थे। उन्हें तो आपने अज्ञानी लिखने की धृष्टता कर डाली!

इसके साथ ही साथ पृष्ठ १०० पर पं० लालाराम जी ने भी अपनी एक टिप्पणी लगादी है। आपका लिखना है कि- "वास्तविक बात यह है कि गंधोदक या भगवान के अभिषेक का जल महापवित्र है। वह किसी प्रकार भी अपवित्र नहीं हो सकता तथा विनय और अविनय दोनों भावों से हैं"। पाठक विचार करलें कि पण्डित जी अपने पक्ष को भूल कर पांडे भक्ति में कितने तल्लीन होगये हैं। यदि कोई पूछे कि पण्डितजी महाराज! जब महापवित्र अभिषेक का जल कभी भी अपवित्र नहीं हो सकता तब उससे भी अनन्तगुनी पवित्र जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा तो किसी प्रकार भी अपवित्र नहीं होगी। तब क्या आपके मन्तव्यानुसार अस्पृश्य शूद्र भी प्रतिमा जी को छू सकेंगे? फिर जैन स्त्रियों के द्वारा प्रक्षाल

करने का भी निषेध क्यों किया जाता है? और जब विनय अविनय भावों से है तब तो आपके मतानुसार सभी वर्ण और सभी जाति के लोगों को मन्दिर में जाना और पूजा-प्रक्षाल करना चाहिये! कहिये है मंजूर? यदि नहीं, तो पांडेजी की हां में हां मिलाने को विना सोचे विचारे ऊपर वैसा क्यों लिख आये हैं? खेद है कि पंथीय पक्ष में आकर सत्य भी असत्य मालूम पड़ता है। अन्यथा गंधोदक लगाकर हाथ धोने में क्या पाप था?

## ब्राह्मणों की मनःकल्पित उत्पत्ति !

चर्चा १०७ पृ० १०२— में पांडेजी ने आदिपुराण के श्लोक का अर्थ अन्यथा करके ब्राह्मणों की उत्पत्ति अपने मन से एक विचित्र ही रूप में कल्पित की है। आप लिखते हैं कि "भरतचक्रवर्ती ने ब्रह्म कर्म विधि के समय पद्म नाम की निधि से ग्यारह ब्रह्मसूत्र वा यज्ञोपवीत निकाले और उन्हें पहिना कर ग्यारह ब्राह्मण स्थापित किये! भावार्थ—उस समय ग्यारह ब्राह्मण बनाये तथा पीछे अनुक्रम से बढ़ते गये और बहुत हो गये!" । पांडे जी ने इसके लिये आदिपुराण के ३८ वें पर्व का एक श्लोक भी प्रमाण स्वरूप देकर अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है। वह श्लोक यह है—

तेषा कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः ।
उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥

इस श्लोक के यथार्थ अर्थ को न समझ कर पांडेजी ने भरत द्वारा मात्र ११ ब्राह्मणों की स्थापना मान ली है और अन्त में फैसला दे दिया है कि "इससे सिद्ध होता है कि जो लोग इस बात को नहीं मानते वे भ्रम में पड़े हुये है! शास्त्रों में

तो ग्यारह का ही प्रमाण मिलता है !" । बस पांडेजी जो समझे वही ठीक, बाकी सब भ्रम है । तथा पांडेजी जिसका जैसा अर्थ करें वही शास्त्र, बाकी सब अज्ञान है ! इस विद्वत्ताभिमानी को यह भान नहीं था कि संसार में और भी कोई जानकार होंगे । इसलिये इसी प्रकार से श्लोकों का अनर्थ करके स्वयं बड़ा बन बैठा है और दूसरों को कई जगह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि तथा भ्रमपूर्ण लिखा है । उसमें भी शुद्धाम्नाय-तेरह पंथ की बातों में तो खूब ही विष उगला है ! फिर भी गोबर पंथियों की दृष्टि में चर्चासागर जैनागम और पांडेजी आचार्य तुल्य हैं ! अस्तु—

अब विद्वानों को ऊपर के श्लोक और ब्राह्मणों की उत्पत्ति पर विचार करना चाहिये । "तेषा कृतानि चिह्नानि" आदि ऊपर लिखा गया श्लोक आदिपुराणके पर्व ३८ का २१वें नम्बरका है । उसकी हिन्दी टीका आदिपुराण के पृष्ठ १२४१ पर उन्हीं पंडित लालारामजी ने की है जिन्हों ने कि चर्चासागर के भाषान्तर में उस श्लोक का अन्यथा अर्थ करते हुये कुछ भी विरोध नहीं किया है । पण्डितजी द्वारा किया गया आदिपुराण के उस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है-"पद्म नाम की निधि से ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत या जनेऊ) नाम का सूत्र लेकर उससे एक से लेकर ग्यारह तक अलग अलग उनके चिह्न किये" । फिर इससे आगे के श्लोक की टीका इस प्रकार की है कि "ग्यारह प्रतिमाओं के भेद से जिन्हों ने यज्ञोपवीत धारण किये हैं (अर्थात् जिसके पहिली प्रतिमा थी उसने एक यज्ञोपवीत धारण किया, जिसके दूसरी प्रतिमा थी उसने दो, इसी क्रम से ग्यारह तक यज्ञोपवीत धारण किये हैं) ऐसे उन सब लोगों का चक्रवर्ती ने आदर सत्कार किया तथा अव्रतीजनों को बाहर निकाल दिया ।' इत्यादि

इससे सिद्ध है कि ग्यारह नहीं किन्तु इससे कई गुने

ब्राह्मण बनाये गये थे और उनके व्रत के चिह्न स्वरूप या ग्यारह प्रतिमाओं के सूचक सूत्र (यज्ञोपवीत) पहिनाये थे। उन सूत्रों की एक से ग्यारह तक की संख्या को पांडेजी ने ब्राह्मणों की ग्यारह संख्या समझ लिया है। किन्तु आदिपुराण के विरोधी इस अर्थ का पं० लालाराम जी ने भी कोई निषेध नहीं किया! यदि आदिपुराण का यह प्रकरण पूरा पढ़ा जाय तो स्पष्ट मालूम होजायगा कि ११ ब्राह्मण बनाने की कल्पना पांडेजी के ही दिमाग़ का आविष्कार है। भरत चक्रवर्ती ने तमाम मण्डलीक राजाओं को मय मित्रवर्ग और नौकर चाकरों के बुलाया था और उन सब की परीक्षा की थी। तब क्या उनमें से ११ ही पास हुये होंगे?

यदि ग्यारह ब्राह्मणों की स्थापना ही मानी जाय तो पांडेजी के लिखने के अनुसार 'वे पीछे अनुक्रम से बढ़ते गये, यह कैसे माना जा सकता है? कारण कि वे विचारे ११ नये ब्राह्मण, स्त्रियों को कहाँ से लाये होंगे? और थोड़े ही समय में लाखों ब्राहणों की संख्या कैसे होगई? क्या उन्हों ने विजातीय विवाह किया था? क्या इसे पांडेजी के भक्त मानने को तैयार हैं? अगर मानते हैं तो विजातीय विवाह का समर्थन होता है, और यदि नहीं मानते हैं तो उन ग्यारह ब्राहणों ने अपनी संख्या कैसे बढ़ाई? इसका उत्तर देवें। सच बात तो यह है कि ११ ब्राह्मणों की उत्पत्ति लिखने में पांडेजी भूले हैं। उसे ही उनके भक्तजन भी दुराग्रह पूर्वक मानने को तैयार होंगे; कारण कि उनकी दृष्टि में चर्चासागर आगम ग्रन्थ है।

## प्रतिमाओं से विनाश!

चर्चा १०६ पृ० १०४—पर पांडे जी ने घर में छोटी बड़ी प्रतिमाओं के आधार पर हानि लाभ की कल्पना की है।

आप लिखते हैं कि—"एक अंगुल की प्रतिमा श्रेष्ठ है, दो अंगुल की धन नाश करने वाली है, तीन अंगुल की वृद्धि, चार अंगुल की पीड़ा, पांच अंगुल की सुख, छह अंगुल की उद्वेग, सात अंगुल की गायों की वृद्धि, आठ अंगुल की हानि, नौ अंगुल की पुत्रवृद्धि, दश अंगुल की धन नाश और ग्यारह अंगुलकी प्रतिमा गृहस्थों के समस्त काम और अर्थ की सिद्धि करने वाली होती है"। इसमें किसी दीक्षाकल्प का प्रमाण दिया गया है!

" प्रतिमाओं के द्वारा सुख दुख का कैसा कल्पित एवं हास्यजनक विधान किया गया है! मानो ऊने अंगुल की प्रतिमा सुख देने की अधिकारी है और पूरे अंगुल की प्रतिमाओं को दुख देने का अधिकार है! क्या प्रतिमाओं की लम्बाई चौड़ाई पर ही जैनियों का कर्मसिद्धान्त टिका हुआ है? यदि ऐसा ही होता तो सभी गृहस्थ क्यों न अपने २ घर में ऊने अंगुल की प्रतिमायें रखने लग जावें? और फिर सात अंगुल की प्रतिमा गायों की वृद्धि क्यों करेंगी? क्या वह बैल, भैंस या घोड़ों की वृद्धि नहीं कर सकेंगी? क्या पांडे जी की यह मात्र गौभक्ति का प्रदर्शन नहीं है? समझमें नहीं आता कि ऐसी मिथ्या कल्पना करके क्यों जैनधर्म की हंसी कराई जाती है!

जब कि पांडे जी २, ४, ६, ८ और १० अंगुल की प्रतिमा रखने में विनाश वतलाते हैं, तब प्रतिष्ठा शास्त्रों में एक से ग्यारह अंगुल तक की प्रतिमा गृहस्थ को अपने घर में रखने और पूजने की स्पष्ट आज्ञा दी गई है। यथा—

आरभ्यैकांगुलं बिम्बं यावदेकादशागुलं।
गृहेषु पूजयेत्प्राज्ञ ऊर्ध्वं प्रासादके पुनः॥

—चर्चासमाधान, चर्चा ७६।

यदि पूरे नम्बर की प्रतिमायें हानिकारक होतीं तो उनकी मनाई यहां पर क्यों नहीं की जाती? और १ से ११ अंगुल तक की प्रतिमा घरमें रखने और पूजने का स्पष्ट विधान क्यों किया जाता? दूर की बात जाने दीजिये, पांडे चम्पालाल जी और तमाम गोबरपंथियों के मान्य ग्रन्थ त्रिवर्णाचार के पृष्ठ १६२ पर स्पष्ट लिखा है कि—

द्वादशांगुलपर्यन्तं यवाष्टांशादितः क्रमात् ।
स्वगृहे पूजयेद्बिम्बं न कदाचित्ततोऽधिकम् ॥६-४१॥

अर्थात्—अपने घर में यव के आठवें भागको आदि लेकर क्रमसे १२ अंगुल पर्यन्त की प्रतिमा की पूजा करे। इससे बड़ी प्रतिमा घर में नहीं रखना चाहिये-मन्दिर में विराजमान कर देवें। यहा पर भी पूरे नम्बर की प्रतिमाओं का कोई निषेध नहीं है, प्रत्युत क्रम स १२ अंगुल तक सभी की पूजा करने का विधान बतलाया गया है। यह परस्पर विरोध क्यों? इस समय पांडेजी तो न जाने किस गति में होंगे, मगर हम चर्चासागर भक्तों से पूछते है कि आप चर्चासागर को प्रमाण मानेंगे या उसके जनक त्रिवर्णाचार को? कारण कि दोनों में परस्पर विरोध है। दूसरा विरोध इन दोनों में यह भी है कि चर्चासागर में ११ अंगुल से बड़ी प्रतिमा घर में रखने की मनाई की गई है जबकि त्रिवर्णाचार में १२ अंगुल तक की प्रतिमा घर में रखने की आज्ञा है। अब बताइये कि कौन प्रमाण है? गोबर पंथियों की दृष्टि में तो यह दोनों ग्रन्थ जैन आगम से भी बढ़ कर हैं।

## क्षपकश्रेणी में संहनन का अभाव।

चर्चा १११ पृ० १०५—में पांडेजी ने एक सैद्धान्तिक

चर्चा उठाई है कि "क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले योगीश्वरों के श्रेणी चढ़ते समय कौनसा संहनन होता है ?"। इसका समाधान इस प्रकार किया है कि—

क्षपकश्रेणीवाले मुनीश्वरों के छहों संहननों में से **कोई संहनन नहीं होता** (!) क्योंकि क्षपकश्रेणी में चढ़नेवाले साधुओं के, अयोग केवली जिनराज के, चतुर्णिकाय देवों के, सातवें नरक में रहने वाले नारकी जीवों के, आहारक शरीर को धारण करने वाले महर्षियों के, एकेन्द्रिय जीवों के और कार्मणकाय के आश्रित रहने वाले विग्रहगति में प्राप्त हुए जीवों के, इन सात स्थानों में रहने वाले जीवों के शरीर में वज्रवृषभनाराच आदि छहों संहननों में से एक भी संहनन नहीं होता। ऐसा सिद्धान्तसारप्रदीपक में लिखा है। यथा—

सयोगे च गुणस्थाने आद्य संहननं भवेत् ।
केवले क्षपकश्रेण्यारोहणे कृतयोगिनाम् ॥१२८॥
अयोगिजिननाथाना देवानां नारकात्मनाम् ।
आहारकमहर्षीणामेकाक्षाणां वपूंषि च ॥१२९॥
यानि कार्मणकायानि व्रजतां परजन्मनि ।
तेषां सर्वशरीराणां नास्ति संहननं क्वचित् ॥१३०॥

पांडेजी की इस अक्षम्य सैद्धान्तिक भूल को देखकर उनकी बुद्धि पर तरस आता है। आपको इतना भी भान नहीं था कि हम आगे पीछे क्या लिख रहे हैं। इस चर्चा में आपने क्षपकश्रेणी वाले के संहनन का बिलकुल ही अभाव बतलाया तो आगे चलकर स्वयं आपने ही चर्चासागर की चर्चा नं० २०२ पृष्ठ ३४९ में लिखा है कि "आठ नौ दस तथा क्षीणमोह नाम के बारहवें गुणस्थान में और सयोग जिन नाम के तेर-

हवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले साधुओं के पहला वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है।"। इसमें भी सिद्धान्तसार दीपक का प्रमाण दिया है और चर्चा नं० १११ में भी सिद्धान्तसार के कथन का अनर्थ करके उसी के द्वारा क्षपकश्रेणीमें संहनन का अभाव बतलाया है। इससे साधारण जनता सिद्धान्तसार में परस्पर विरोध मान बैठेगी। उसे क्या मालूम कि यह पांडेजी की बुद्धि का नमूना है।

पांडेजी ग्रन्थकार बनने तो बैठे हैं, मगर उन्हें इतना ज्ञान नहीं था कि यदि क्षपकश्रेणी में संहनन नहीं होता है तो वह केवली अवस्था में कहा से आ कूदता होगा? तत्वार्थसूत्र का विद्यार्थी भी इस बात को जानता है कि "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्" अर्थात्—ध्यान के लिये उत्तम संहनन की आवश्यक्ता है। मगर पांडेजी की बुद्धि वहां तक नहीं पहुँची। यह बात तो निश्चित है कि क्षपकश्रेणी चढ़ने वाला नियम से मोक्ष जाता है, तब उसको वज्रवृषभनाराच संहनन होना ही चाहिये। किन्तु पांडेजी ने इस पर भी कोई विचार नहीं किया।

सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि चर्चासागर के भाषान्तरकार पं० लालारामजी ने भी इस पर अपना कोई नोट नहीं लगाया है। शायद आप भी इसे अबाधित सिद्धान्त समझते होंगे या 'पांडे वाक्यं प्रमाणं' मान बैठे होंगे। जहां पर कोई पंथीयपक्ष आया है वहा तो आपने लम्बे २ नोट लगाये हैं, मगर यहा पर चुप्पी साध गये हैं, यह आपकी शास्त्रीयता में बट्टा लगाने वाला है। ३००) लेकर इतनी भी भूल नहीं सुधार देना, यह कहां तक योग्य है?

विचारने की बात है कि—सातवें गुणस्थान तक तो मनुष्य के औदारिक शरीर रहता है, किन्तु जब वह क्षपकश्रे

चढ़ने लगता है तब क्या उनके सभी हाड़ पिंजर काफूर हो जाते होंगे ? मोक्ष जाने के बाद भी तो भगवान का परमौदारिक शरीर रहजाता है, तब पांडे जी की बुद्धि में क्षपक श्रेणी चढ़ते ही कैसे उड़ जाता होगा सो कुछ समझ में नहीं आता !

विज्ञ पाठक वृन्द ! अब देखिये कि पाडे जी की भूल कहा हुई है ? असल में बात यह है कि आप सिद्धान्तसार के ३ श्लोक देकर उनका इकट्ठा अर्थ कर बैठे हैं, और उन पर गम्भीरता से विचार नहीं किया है । वास्तव में तो श्लोक नं० १२८ का स्पष्ट अर्थ अलग ही है । यथा—

"सयोग केवली और क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले योगी के केवल आदि का प्रथम संहनन होता है, शेष अयोग केवली आदि छ स्थानों में कोई भी संहनन नहीं होता है" । इस पर पूर्वापर संबंध का कोई विचार नहीं करके पांडे जी ने यों ही लिख मारा है । इसी प्रकार सिद्धान्तसार के प्रमाण देकर पाडे जी ने कई जगह अर्थ करने में भूल की है, जिसमें उक्त भूल तो बहुत ही हास्यजनक हुई है ।

## सम्मेद शिखर की यात्रा का फल ।

चर्चा ११४ पृ० १११—पर सम्मेदशिखर की यात्रा का सबसे उत्कृष्ट फल का विचित्र ही वर्णन किया गया है और तारीफ तो यह है कि यह सब भगवान महावीर स्वामी के मुख कमल से कहलवाया गया है । पाठक इसकी यथार्थता पर गंभीरता से विचार करें । हमें भगवान के कूटों से लाखों करोड़ों मुनिराजों के मोक्षगमन और उससे लाखों करोड़ों उपवासों के फल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहना है, मगर जो बातें सरासर शास्त्रविरुद्ध हैं उन्हें तो बतलाना ही होगा । पृ० ११२ पर पांडे जी का लिखना है कि "उस बारह योजन प्रमाण सिद्ध-

क्षेत्र में पृथ्वी अप तेज वायु वनस्पति कायिक जीव तथा दो इन्द्रिय से लेकर पशुपक्षी मनुष्य आदि जो जीव उत्पन्न होते हैं वे सब भव्य ही होते हैं।"

यह कितनी विचित्र बात है? क्या इसे कोई भी शास्त्र का जानकार स्वीकार करलेगा? यह बात तो निश्चित है कि 'अभव्य जीवों को पंच परावर्तन करना पड़ते हैं, और क्षेत्र परावर्तन में हर एक प्रदेश में जन्म मरण करना पड़ता है। तब क्या वह अभव्यजीव क्षेत्र-परावर्तन करते समय सम्मेदशिखर का १२ योजन पर्यन्त क्षेत्र छोड़ देंगे? तब उनके क्षेत्रपरावर्तन पूर्ण कैसे होगा? क्या किसी शास्त्र में भव्यों के क्षेत्र परावर्तन से अभव्यों का क्षेत्र परावर्तन छोटा लिखा है? क्या कहीं पर भी इनका भिन्न २ निरूपण है? यदि नहीं तो उक्त बात कैसे मानी जा सकती है?

जो अभव्यजीव जिनेन्द्र भाषित ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी हो सकता है तथा मरण करके नवग्रैवेयक तक जा सकता है वह सम्मेदशिखर पर मर कर एकेन्द्रिय भी नहीं हो सकता, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है! इससे अगले पृष्ठ ११२ पर एक और भी विचित्र बात लिखी है—

"सुपार्श्वनाथ भगवान सुप्रभकूट से एक हज़ार मुनियों सहित मोक्ष पधारे, फिर उसी कूट से ७२०७७४२ मुनि मोक्ष पधारे। इस कूट के दर्शन करने से ३२ करोड़ उपवास का फल और कर्मों की निर्जरा होती है। इस कूट की रज से कुष्ट रोग मिट जाता है। इसकी यात्रा का फल दोनों कूटों की यात्रा के समान है।" तथा इससे आगे लिखा है कि "चन्द्रप्रभ स्वामी ललितघट कूटसे एक हज़ार मुनियों सहित मोक्ष पधारे। फिर उसी कूट से ८४५२००८४५५५ मुनि मोक्ष पधारे। इस कूट की वंदना से १६ करोड़ उपवासका फल मिलता है।"

इतना पक्षपात क्यों ? जब कि सुपार्श्वनाथ भगवान के कूट की अपेक्षा चन्द्रप्रभ भगवान के कूट से हजार गुने से भी अधिक मुनि मोक्ष पधारे हैं, वहा से ७२ करोड़ और यहां से ८४ अरब ने मुक्ति पाई है तब सुपार्श्वनाथ भगवान के कूट के दर्शन करने से तो ३२ करोड़ उपवास का फल और चन्द्रप्रभु के कूट से उससे आधा १६ करोड़ उपवास का ही फल मिले, यह कैसे माना जाय ? पांडे मन्नालाल जी का भगवान चन्द्रप्रभु ने क्या बिगाड़ा था जो उनका इतना थोड़ा फल बतलाया है ? तारीफ तो यह है कि 'संग्रह ग्रन्थ' का दम भरने वाले पांडे जी ने इसमें कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है।

और भी आगे चल कर पृ० ११४ पर पांडे जी ने लिखा है कि—"पार्श्वनाथ भगवान सुवर्णभद्र कूट से मोक्ष पधारे, फिर उसी कूट से १८४८५७३२ मुनि मोक्ष पधारे !" इस प्रकार पार्श्वनाथ भगवान के बाद थोड़े से ही काल में करोड़ों मुनियों को मोक्ष पहुँचा देना भी असंभव एवं मनोकल्पित बात है। जब कि पार्श्वनाथ भगवान के बाद मात्र एक ही कूट से करोड़ों मुनि मोक्ष पधारे तब अन्य स्थानों से भी कुछ मोक्ष गये होंगे। क्या पार्श्वनाथ भगवान के बाद इतने मुनियों का मोक्ष जाना सम्भव या शास्त्र-संगत माना जा सकता है ?

पांडे जी ने पृष्ठ ११५ पर एक और भी विचित्र बात लिखी है कि "भगवान महावीर स्वामी ने राजा श्रेणिक से दिव्यध्वनि में कहा कि तुमको सम्मेदशिखर की यात्रा हो नहीं सकती क्योंकि तुम्हारे पहिले नरकायु का बंध हो चुका है। फिर भी राजा श्रेणिक वहां गया और यात्रा नहीं हुई !" यहाँ पर विचारना यह है कि भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में विराजमान होकर हजारों प्रश्न करने वाले और परम श्रद्धानी राजा श्रेणिक भगवान महावीर स्वामी की आज्ञा

का उल्लंघन करके हठपूर्वक शिखर जी गये होंगे, यह कैसे माना जा सकता है ? क्या उनको भगवान की दिव्यध्वनि पर इतना भी विश्वास नहीं था ? यदि श्रेणिक को इतना आज्ञा- विरोधी एवं विश्वासहीन माना जाय तो उनने भगवान से हज़ारों प्रश्नों का समाधान कैसे किया होगा ? सच वात तो यह है कि पांडे जी के पेट से ही यह कल्पना निकली है।

आगे चल कर पांडे जी ने कपड़ों का भारी महत्व वतलाया है। आप लिखते हैं कि "जो भव्यजीव सफ़ेद वस्त्र पहिन कर इसकी यात्रा करते हैं उनको शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होती है। पीले वस्त्रों से रोग नाश, हरे वस्त्रों से मानसिक पीड़ा और शोक संताप का विनाश और लाल रंग के वस्त्रों सहित शिखर जी की यात्रा करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती ह !"

यह सब देखते हुये मालूम होता है कि पांडे जी ने मोक्ष का भाव वहुत ही सस्ता कर दिया है ! श्वेताम्वर साधुओं को दिगम्बर साधुओं की अपेक्षा वहां से जल्दी मोक्ष होनी चाहिये, कारण कि वे सफ़ेद वस्त्र पहिनते हैं। तथा आजकल खादी पहिनकर दर्शन करने वालों को भी जल्दी मोक्ष मिल जायगा। मैं भी तो खादी पहिनता हूं, इस लिये अव शिखरजी की वन्दना का विचार है ! क्या मुझे भी जल्दी मोक्ष मिल जायगा ?

दूसरी वात यह है कि जव लाल पीले और हरे रंगों से रोग शोक संताप मिट जाते हैं, तव शिखर जी की धर्मशाला में तमाम रोगियों को रखना चाहिये और उन्हें रंग विरंगे कपड़े पहिना कर दर्शन करने को भेजना चाहिये। वस, वे तुरंत निरोगी हो जायेंगे। हमें मालूम हुआ है कि शिखरजी में जैन औषधालय वड़नगर की एक शाखा खोली गई है। किन्तु मैं तो

उसके महामंत्री लाला भगवानदास जी से निवेदन करूंगा कि आप वहां दवाइयों में खर्चा न करके पांडे जी का नवीन आविष्कार आज़माइये और औषधालय की शाखा से रोगियों को रंग बिरंगे कपड़ों में सजाकर शिखरजी की वन्दनार्थ भेजा करें। बस, सहजही में रोगी निरोग हो जायगा। और फिर एक बार लाल वस्त्र पहिनाकर दर्शन कराने से लक्ष्मी की प्राप्ति हो जायगी। इसलिये दोनों तरफ का किराया भी निकल जायेगा !

पाठको ! इस विनोदपूर्ण कथन से परमपूज्य शिखरजी क्षेत्र के प्रति मेरा अश्रद्धान नहीं समझें। किन्तु मैंने तो यह पांडे जी की मूर्खतापूर्ण सूझ का दिग्दर्शन कराया है। मैं मानता हूँ कि शिखरजी की वन्दना कल्याणकारिणी है, मगर पांडेजी के विचित्र फल विधान पर कौन श्रद्धान करेगा ? इससे तो वैज्ञानिक युग में जैनधर्म की हंसी होती है ! जैनधर्म में इन तूतों को कोई महत्व नहीं है। यदि कोई मनुष्य शुभ परिणामों से परमपूज्य सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर जी की यात्रा करेगा तो उसका कल्याण हो सकता है, भले ही उसने रंगविरंगे कपड़े न पहिने हों। इसी प्रकार अशुभ परिणामी पुरुष शिखर जी की सैकड़ों वन्दना कर डाले तो भी उसका कल्याण नहीं हो सकता, भले ही उसने रंगविरंगे वस्त्र पहिने हों। इससे सिद्ध होता है कि लाल पीले या सफ़ेद वस्त्रों को पहिन कर वन्दना करने से अमुक फल की प्राप्ति होने की कल्पना निराधार एवं विवेकविहीन है। कारण कि दोनों अवस्थाओं में रंगीन वस्त्र कार्यकारी नहीं हो सकते।

## अक्षत और कमल में भगवान !

चर्चा १३४ पृ० १३०—में अतदाकार स्थापना का

वर्णन करते हुये लिखा है कि "अक्षत आदि द्रव्यों में 'ये अरहन्त परमेष्ठी हैं अथवा सिद्ध परमेष्ठी हैं' इस प्रकार मंत्र पूर्वक स्थापना करना सो अतदाकार स्थापना है"। यहां पर भाषान्तरकार ने थोड़ासा परिवर्तन करके मात्र अक्षत में ही भगवान की कल्पना कर लेना बतलाया है, मगर मूल हस्तलिखित चर्चासागर के पृष्ठ ८८ पर लिखा है कि-"बहुरि अक्षत और कमल फल आदिकूं अपनी बुद्धि करि संकल्पित करि ताकूं पूजना, यह अरहंत आदि अमुक परमेष्ठी हैं ऐसें.........अक्षतादि पुष्पनिकौं नामतैं स्थाप्य करि ताहि कौं जलगंधादि द्रव्यनितैं पूजना सो असद्भाव पूजा नाम है।" इत्यादि।

यहां पर पांडेजी ने अक्षत और कमल फल आदि को ही भगवान मानकर अष्टद्रव्य से पूजा करने का विधान बतलाया है। इसलिये पूजा करते समय अक्षत पुष्प वा कमल आदि को ही भगवान मान लेना होगा, कारण कि 'यह वही है' इस प्रकार का संकल्प स्थापना-निक्षेप में हुआ करता है। पं० लालारामजी ने यहां पर पांडेजी के मतविरुद्ध नोट लगाने का साहस किया है। आप लिखते हैं कि "पूजा में आह्वान स्थापना सन्निधिकरण किया जाता है। वह स्थापना निक्षेप नहीं है।"'वह तो एक आदर सत्कार की विशेष रीति है।"

वास्तव में यदि अक्षत और कमलपुष्पों में भगवान की स्थापना करके उनकी ही पूजा की जाने लगे तो बड़ा अनर्थ होजाय! अभी जो हम अन्य लोगों के सामने युक्तिपूर्वक मूर्ति पूजा का समर्थन कर सकते हैं और कहते हैं कि 'वीतराग, शान्तिमय, दिगम्बर भव्य मुद्रा को देखकर अपने परिणाम शुद्ध एवं वीतराग बनाये जाते हैं' यह बात फिर नहीं कह सकेंगे। तथा जैनियों की मूर्तिपूजा एक विढंगी और वाहियात पूजा हो जायगी। कारण कि पुष्प और कमल को भगवान

मानकर उसकी पूजा करने से परिणामों पर वीतरागमूर्ति की भाँति अच्छा असर नहीं हो सकता। इसलिये पांडेजी की कल्पना ठीक नहीं मालूम होती है। हालांकि पांडेजी ने इसके समर्थन में कई गाथायें दी हैं, मगर किसी प्रामाणिक व मान्य ग्रन्थ का प्रमाण न मिलने से ही संभवतः आपने गाथाकार के नाम नहीं लिखे हैं और लिख दिया है कि "सो ही लिखा है" इत्यादि।

पांडेजी ने इसी प्रकरण में पृष्ठ १३२ पर लिखा है कि "तीर्थंकरों के मोक्ष होजाने के बाद उनके शरीर की जलगंधादि से पूजा करना सो अचित्त द्रव्य पूजा है!" मगर जब भगवान का शरीर मोक्ष जाने के बाद तुरंत कपूर की भांति उड़ जाता है तब उसकी जल गंधादि से पूजा करना कैसे माना जा सकता है? हरिवंशपुराण में लिखा है कि—

*स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः।*
*मुंचन्ति स्कंधतामन्ते क्षणात्क्षणरुचामिव॥ ६५–१३॥*

अर्थात्—यह स्वभाव ही है कि भगवान के शरीर के परमाणु अन्त में स्कंध पर्याय को छोड़ कर क्षण भर में विजली की भांति विलीन हो जाते हैं। तब अष्ट द्रव्य से शरीर की पूजा करना और फिर उसे अचित्त द्रव्य पूजा कैसे माना जा सकता है? भले ही देवगण उस क्षणध्वंशी शरीर की पूजा करने में समर्थ हो सकते हों मगर मनुष्यों के लिये ऐसी पूजा करना सर्वथा अशक्य है। पांडेजी इस अचित्त पूजा में भी कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दे सके हैं, किन्तु यों ही कहीं से एक गाथा उठा कर रखदी है।

**पण्डितजी और पांडेजी**—पाठक यह तो भली भाति समझ चुके हैं कि पांडे चम्पालाल जी चण्डी मुण्डी भैरों भवानी

और यक्ष यक्षिणी तथा पद्मावती क्षेत्रपाल आदि के पुजारी थे, मगर अब एक नई कम्पनी भी तैयार हुई है, जिसके मुख्य पात्र पं० मक्खनलाल जी, पं० लालाराम जी और पं० नन्दनलाल जी (क्षुल्लक कहेजाने वाले ज्ञानसागर जी) आदि हैं। इसीलिये चर्चासागर के भाषान्तर कार पं० लालाराम जी ने पांडे जी की ऐसी तमाम बातों का समर्थन किया है। मगर पण्डित जी अभी पक्के पुजारी मालूम नहीं होते। कारण कि आपने कहीं २ पर घुटाला कर दिया है। जैसे—आपने पृ० १३१ के नोट में लिखा है कि "क्षेत्रपाल आदिक की अतदाकार मूर्ति बनाना अतदाकार स्थापना है।"

मगर आगे चलकर पांडे जी ने पृष्ठ १३५ पर वसुनन्दि-श्रावकाचार का प्रमाण देते हुये लिखा है कि "हुँडावसप्पिणीये विइया ठवणा ण होइ कायव्वो" अर्थात् इस हुँडावसर्पिणीकाल में अतदाकार स्थापना नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार पांडे जी और पण्डित जी में मुठभेड़ हो जाती है। कारण कि पण्डित जी और उनकी कम्पनी तथा आचार्य शान्तिसागर संघ आदि का तो उत्तर हिन्दुस्थान में सतत् यही प्रयत्न चालू है कि सभी लोग क्षेत्रपाल आदि के पुजारी होजायँ, किन्तु इधर आपने इसे अतदाकार स्थापना लिख डाली है, जिससे आगे चलकर पांडे जी की ही क़लम से वर्तमान में क्षेत्र-पाल पूजा का विरोध हो जाता है। इस गड़बड़ घुटाले का जुम्मेवार कौन है? पण्डित जी या पाँडे जी?

## विचित्र कवायत!

चर्चा १३६ पृ० १३५-१३६—में लिखा है कि "भगवान की पूजा करने वाले पुरुषको सबसे पहिले अपने हाथ पैर धो लेना चाहिये। फिर पश्चिम की ओर मुखकर बैठ कर शुद्ध जल से

कुल्ला करता हुआ दतौन करना चाहिये। तदनन्तर फिर कर पूर्व की ओर मुख कर प्रासुक जल से स्नान करना चाहिये। ऊपर लिखी विधि के अनुसार स्नान करके उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके भगवान की पूजा करनी चाहिये। ये वाक्य श्री उमास्वामी के हैं!! इससे सिद्ध है कि पूर्व और उत्तर के सिवाय बाकी दिशाविदिशाओं में पूजा नहीं करनी चाहिये। जो लोग भगवान के सामने खड़े होकर पूजा करते हैं उन्हें दोष लगता है।" इत्यादि।

पाठक देखेंगे कि यह स्नान करने के लिये कैसी विचित्र कवायत बताई गई है! कुल्ला पश्चिम में ही करे, स्नान पूर्व की ओर ही मुख करके करे, पूजा दो दिशाओं में ही करे, भला इन बातों में क्या तथ्य है? इस पाखण्ड को उमास्वामी का वाक्य बतलाना पहिले नम्बर की धूर्तता है। तत्वार्थसूत्र के कर्ता भगवान उमास्वामी के नाम से रचा गया किसी धूर्त भट्टारक का यह जाली ग्रन्थ है। उसमें मिथ्यात्व पाखण्ड और शिथिलाचार की पुष्टि की गई है। उमास्वामीश्रावकाचार की अप्रमाणिकता आगे युक्तिपूर्वक सिद्ध की जायगी।

सर्वसाधारण जैन जनता को खबर नहीं है कि पूर्वाचार्यों के नाम से कई भोजनभट्ट भट्टारकों ने अनेक ग्रन्थों की मनमानी रचना कर डाली है। जैसे 'श्रीउमास्वामीजी' के नाम से "उमास्वामी श्रावकाचार", श्रीमद् "कुन्दकुन्दाचार्य जी" के नामसे 'कुन्दकुन्द श्रावकाचार', श्रीमद् "जिनसेनाचार्य जी" के नाम से "जिनसेन त्रिवर्णाचार", "श्रीभद्रबाहु स्वामी" के नाम से "भद्रबाहु संहिता", "श्रीसोमसेनाचार्य" के नाम से योनि पूजक, महा घृणित "सोम सेन त्रिवर्णाचार", "श्रीमद्भट्टाकलंक देव" के नामसे "अकलंक प्रतिष्ठापाठ" और श्री "पूज्यपाद स्वामी" के नाम से "पूज्यपाद उपासकाचार" आदि कितने ही

मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थ जैनधर्म को कलंकित करने के लिये स्वयं रच डाले हैं या विधर्मियों द्वारा अपनी ख्याति बढ़ाने के लिये विधर्मियों से लिखवाये हैं।

इस प्रकार धूर्तों ने समाजको धोखा दिया है। अन्यथा पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि जैनधर्म में इस कवायत को—कुल्ला, स्नान और पूजन में दिशा फेर करने को—कहां स्थान है ? यहा पर तो शुद्ध परिणति की आवश्यकता है, जिस पर चर्चासागर में तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है।

दूसरे—पांडे जी भगवान के सामने पूजा करने वाले को दोषी और आज्ञालोपक बतलाते हैं मगर आपने ही स्वयं चर्चा· सागर के पृष्ठ १४८ पर लिखा है कि "दीपक जलाकर भगवान के सामने मंत्रपूर्वक आरती उतारकर पीछे भगवान की दाहिनी ओर दीपक रख देना चाहिये"। आपने इस सन्मुखपूजा में उसी उमास्वामी श्रावकाचार का प्रमाण भी दिया है, जिसका प्रमाण देकर सन्मुख पूजा का निषेध किया गया है। यथा—

"दीपपूजा च सन्मुखी"

अब बताइये इस परस्पर विरोधी कथन से आज्ञालोपक किसे कहाजाय ? पांडेजी को, उमास्वामि को या चर्चासागर भक्तों को ?

## दिशाओं का जाल।

चर्चा १३७ पृ० १३६—में पांडेजी ने लिखा है कि "पूर्व उत्तर दिशाओं को छोड़कर बाकी की छह दिशाओं की ओर मुख करके जो भगवान की पूजा करते हैं वे उमास्वामी (!) के वचनों के विरुद्ध चलते हैं। क्योंकि उमास्वामी ने दो ही दिशा की ओर मुंह करना बतलाया है। बाकी दिशाओंका निषेध है। तथा दूसरा दोष यह है कि उचित वा शुभ कार्यों के लिये ये

दो ही दिशायें उत्तम हैं। क्योंकि तीर्थङ्कर आदि भी इन दो ही दिशाओंकी ओर मुंह करके विराजमान होते हैं। बाकी दिशाओं में शुभ कार्यों के करने का शास्त्रों में कहीं विधान नहीं है।"

पाठकगण इस पर विचार करें। पाडे जी पूर्व और पश्चिम के सिवाय बाकी दिशाओं में शुभकार्य करने का शास्त्रों में विधान नहीं मानतेहैं। मगर आपने स्वयं अपने ही द्वारा रचे गये चर्चासागर शास्त्र (!) के पृष्ठ १४८ पर चर्चा १४७ में लिखा है कि—"भव्यजीवों को भगवान का ध्यान और वंदना भगवान के दाहिनी ओर से करना चाहिये"। इससे तो मुख विदिशा में हो जायगा। कारण कि उत्तराभिमुखी प्रतिमा की दाहिनी ओर खड़े होकर पूजन स्तवनादि करने वाले का मुंह 'पश्चिम' में हो जायगा और पूर्वाभिमुखी प्रतिमा की दाहिनी ओर खड़े होकर स्तवनादि करने से उत्तर की ओर मुंह हो जायगा! तब कहिये कि क्या पाडेजी स्वयं आज्ञालोपक नहीं हैं? क्या भगवान की वंदना और नमस्कार करना शुभ काम नहीं है? यदि है तो पश्चिम दक्षिण में मुंह करके शुभ काम की मनाई कैसे हो सकती है? दूसरे जब पांडुक शिला-पर पूर्व या उत्तर मुख करके भगवान को विराजमान करके इन्द्र दोनों बाजू में खड़े होकर कलशाभिषेक करते हैं तब भी एक इन्द्र पश्चिम या दक्षिण की ओर हो जायगा। तो क्या वह भी आज्ञाविलोपक हो जायगा? अथवा इसे भी अशुभकार्य माना जाय?

इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि पांडेजी ने मनगढ़न्त बातें घुसेड़ कर जैनागम को विरोधी बनाने का प्रयत्न किया है। आगे चलकर तो आपने दिशाफेर होने से सन्तानादि का विनाश तक लिख मारा है। इसके लिये पृष्ठ १३८ पर आप लिखते हैं कि—

"पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके ही पूजा करना चाहिये, बाकी दिशाओं में नहीं करना चाहिये। कारण कि पश्चिम की ओर मुख करके पूजा करने से सन्तान-नाश, दक्षिण से पुत्रादि का नहीं होना, आग्नेय से धन-हानि और नैऋत्य से कुलका नाश तथा ईशान दिशा में मुख करके पूजा करने से सौभाग्य नष्ट होकर दुर्भाग्य बना रहता है!" इत्यादि।

इसमें उमास्वामी-श्रावकाचार (!) का प्रमाण दिया गया है। मगर पाठकों को मालूम होना चाहिये कि तत्वार्थ सूत्र के कर्त्ता आचार्य उमास्वामीने कोई भी श्रावकाचार नहीं बनाया है। जिसका पांडेजी ने प्रमाण दिया है वह उमास्वामी के नाम से किसी भट्टारक की छलपूर्ण रचना है! जिसे श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सा०ग्रंथ परीक्षामें सप्रमाण सिद्ध कर चुकेहैं!

'उमास्वामी श्रावकाचार' तत्वार्थसूत्रके कर्ता भगवदुउमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है; कारण कि उनका अस्तित्व विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना गया है। और उमास्वामी श्रा० में दशवीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी तक के कई ग्रन्थोंके श्लोक पाये जाते हैं। जैसे—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ( जो १० वीं शताब्दी में बनी), यशस्तिलक (११ वीं), धर्मपरीक्षा, उपासकाचार ( ११ वीं ), श्वे० योगशास्त्र ( -१२२९ ), श्वे० विवेक विलास ( १३ वीं ), पं० मेधावी के श्लोक ( १६ वीं ) तथा धर्मसंग्रह श्रावकाचार के भी श्लोक हैं जो कि १५४१ में बना है। इससे सिद्ध होता है कि उमास्वामी-श्रावकाचार इनके बाद बना है और दूसरी शताब्दी के भगवदुउमास्वामी आचार्य का बनाया हुआ नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस उमास्वामी श्रावकाचार में उक्त अनेक ग्रन्थों के श्लोक उड़ाकर चोरी से अपने नाम से रख दिये गये हैं। तथा रत्नकरण्ड श्रा०, पुरुषार्थ०, यशस्तिलक, योग

शास्त्र आदि ग्रन्थों के कई श्लोक थोड़े से उलटपुलट कर अपने नाम से उमास्वामी-श्रावकाचार में रखे गये हैं। क्या ऐसी नीच कृति तत्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी भगवान कर सकते थे? इत्यादि अनेक युक्तियों से सिद्ध है कि उमास्वामी श्रावकाचार का कर्ता कोई धूर्त व्यक्ति था, जिसने इधर उधर से साहित्य चुराकर ग्रन्थ बनाया है। इसकी विशेष जानकारी के लिये 'ग्रन्थपरीक्षा प्रथम भाग' पढ़ जाइये।

अब पाठक विचार करें कि ऐसे ग्रन्थ को किस तरह प्रमाण माना जाय? और इस ग्रन्थ की पूजा में दिशा फेर होने से सर्वनाश की बात कैसे स्वीकार की जाय?

पं० मक्खनलाल जी ने पांडे जी की यह बात रखने के लिये भी अपने ट्रैक्ट के ७-८ पृष्ठ तो रंगे हैं, मगर एक भी आचार्य का प्रमाण ऐसा नहीं दे सके हैं कि जिसमें पूजाओं की दिशाओं के हेरफेर से पुत्र, पौत्र, धन-सम्पत्ति का विनाश लिखा हो। इस बात को तो पंडित जी साफ़ ही उड़ा गये हैं! यही तो है वादीभकेशरीपन, कि प्रमाण न मिलने पर मुद्दे की बात को छूमन्तर कर देना! पंडित जी ने कुछ इधर उधर के असंबद्ध श्लोकोंको उद्धृत करके यह लिखने का कई जगह साहस किया है कि "पूजादि के लिये पूर्व और उत्तर यह दो ही दिशायें ठीक हैं। चर्चासागर के कथन में कौनसी शास्त्रविरुद्ध बात है?" इत्यादि।

मात्र दिशा-फेर होने से ही जिनेन्द्र भगवान की पूजाका ऐसा भयानक कांड बतलाने पर भी चर्चासागर में विद्यावारिधिजी को कुछ शास्त्र-विरुद्धता ही नहीं दीख रही है! 'माहात्म्यमिदं महामोहस्य!' अगर शास्त्रविरुद्धता दिखती भी हो तो भी आप उसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं, कारण कि ऐसा करने से तीनों सगे भाइयों की भी तो नाक जाती है। अच्छा है,

आप स्वीकार न करें तो न सही। मगर मैं समाज को बतला देना चाहता हूं कि—

चारों दिशाओं में जिनपूजा—

करने का शास्त्रों में कई जगह विधान है। देखिये श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्त्ति विरचित श्री त्रिलोकसार—

सोहम्मो ईसाणो चमरो वइरोयणो पदाक्खिणदो।
पुव्वबरदाक्खिणुत्तरादिसासु कुव्वन्ति कल्लाणं ॥९७७॥

अर्थात्—सौधर्म ईशान चमर और वैरोचनदेव पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं में जिनपूजा रूप पंचकल्याणक करते हैं।

इससे सिद्ध है कि चारों दिशाओं में पूजा की जा सकती है। पं० मक्खनलालजी ट्रैक्ट के पृष्ठ ११० पर लिखते हैं कि "शुभकार्य इन दो (पूर्व-उत्तर) दिशाओं की ओर मुख करके ही किए जाते हैं!"। यह पण्डितजी की शास्त्रपारंगतता का नमूना है! अब पाठकगण तनिक आदिपुराण के पर्व ३८ को देखें—

पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२६॥

यहां पर प्रतिमा के सामने वर वधू को करके पाणिग्रहण का विधान किया गया है। किन्तु प्रतिमाजी का मुख पूर्व या उत्तर में होता है, तब उसके सामने मुख करके बैठने वाले वरवधु का मुख पश्चिम या दक्षिण में होगा! तो फिर पांडेजी और पण्डितजी का दो दिशाओं में ही शुभकार्य करने का विधान कहां रहा? और पांडेजी के सिद्धान्तानुसार तो उन पाणिग्रहण करने वाले वरवधू के संतान ही नहीं होना चाहिये!

कारण कि वे दक्षिण पश्चिम में मुंह करके संस्कार को वैठते हैं! कैसा थोथा सिद्धान्त है! आदिपुराण के पर्व ३९ में लिखा है कि—

*जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् ॥४१॥*

अर्थात्—गृहस्थाचार्य शिष्य को विधिपूर्वक जिन प्रतिमा के सामने बैठावे। यहा पर भी शुभ काम (उपासक दीक्षा) में शिष्य को दक्षिण पश्चिम की ओर मुख करके बैठाना होगा। तब पण्डितजी की शास्त्रीयता कहां टिकेगी?

पं० मक्खनलालजी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ११० पर एक तर्क करते हुये लिखा है कि "सामान्यमार्ग प्रतिमा के विराजमान करने का पूर्व या उत्तर इन दो दिशाओं के लिये ही है, इसलिये पूजक के लिये भी इन्हीं दो दिशाओं का विधान है। यदि समुदाय में या जगह कम होने से पूजा करने वाले कहीं भी खड़े होकर पूजा करलें तो वह निर्वाह कर लेना अलग बात है।"

मैं पण्डितजी से पूछता हूँ कि पूजक को वही दो दिशायें क्यों पकड़ना चाहियें? अधिकभाव तो मूर्ति के सामने खड़े होने से ही लग सकते हैं। तब क्यों न सामने खड़े होकर ही पूजा की जाय? इसके अतिरिक्त आप विदिशा में पूजा करने के फल स्वरूप बतलाये गये भयङ्कर हत्याकाण्ड को तो आप बिलकुल ही उड़ा गये हैं! क्या उसका समर्थक भी आपके पास कोई आचार्यवाक्य है? अथवा कोई युक्ति है? यदि नहीं तो निष्पक्ष होकर आप घोषित क्यों नहीं कर देते हैं कि यह कल्पना मूर्खतापूर्ण है।

अब रही निर्वाह कर लेने की वात, सो पण्डित जी महाराज! आपके आचार्य (!) पांडे चंपालाल जी ने तो पृ०

१३७ पर स्पष्ट लिख दिया है कि "यदि किसी कारण से पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुख करके पूजा करने की विधि न बन सके तो पूजा ही नहीं करनी चाहिये।" तब फिर आपने यह कैसे लिख दिया कि "समुदाय में या जगह कम होने पर कहीं भी खड़े होकर पूजा करलें।" इससे तो आपके परमगुरु पाडेजी की आज्ञा का विरोध हो जायगा। अब आपको इस आज्ञाउल्लंघन का प्रायश्चित कर डालना चाहिये!

बड़े खेद का विषय है कि उक्त पण्डितजी ने अपने हार्दिक विचारों को कुचल कर पाडे जी की उन अधम एवं मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिनमें मात्र दिशा फेर होने से ही पुत्र पौत्रादि का विनाश होजाना बतलाया गया है। यदि पण्डितजी को यह बातें स्वीकार नहीं थीं तो उनका स्पष्ट शब्दों में विरोध क्यों नहीं किया? क्या जैनसमाज चर्चासागर जैसे कलङ्कपूर्ण थोथा को अभी भी जैनागम मानेगी?

चर्चासागर अथवा उमास्वामीश्रावकाचार और इसी कोटि के अन्य ग्रन्थों के पूर्वापर-विरोध का कोई ठिकाना ही नहीं है। यथा चर्चासागर के पृ० १३७ पर उमास्वामी श्रावकाचारके ३॥ श्लोक प्रमाणमें देकर सिद्ध कियाहै कि पूर्व और उत्तर कि अतिरिक्त दिशाओं की ओर मुंह करके पूजा करने से संतति आदि का नाश हो जाता है। इसलिये उन दिशाओं में पूजा या अन्य कोई भी शुभ कार्य नहीं करना चाहिये। मगर उसके आगे अधूरे छोड़ दिये गये श्लोक में ठीक इससे विरुद्ध कथन पाया जाता है। यथा—

अर्हंतो दक्षिणे भागे चैत्याना वंदनं तथा।
ध्यान च दक्षिणे भागे दीपस्यच निवेशनम्॥

अर्थात् अर्हंतभगवान की दाईं ओर खड़े होकर वन्दना करनी चाहिये, दाईं ओर ही ध्यान करना चाहिये और दाईं ओर ही दीपक रखना चाहिये। अब इस पर विचार करिये कि जब पूर्वाभिमुख भगवान की दाईं ओर खड़ा होकर कोई नमस्कार करेगा तो उसका मुंह अवश्य ही पश्चिम में होजायगा, इसलिये सन्तान नाश हो जायगी या शास्त्राज्ञा का लोप होगा! एक ही उमास्वामी के उसी सिलसिले में यह परस्पर विरोधी विधान क्यों हो गया? यदि कोई कुतर्क करे कि वन्दना करने वाला भी पूर्व की ओर ही मुंह करके करेगा तब तो मूर्ति की वन्दना कभी भी नहीं हो सकेगी।

दूसरे—जब तमाम शुभकार्य उत्तर पूर्वको छोड़कर करना मना किये गये हैं तब ध्यान, वन्दना और दीप निक्षेपण एवं 'दीपपूजा च सन्मुखी' आदि का विधान विदिशाओं में क्यों किया गया? क्या यह सब अशुभ कार्य हैं? इन सब बातों को देखते हुये पाठकों को चर्चासागर की शास्त्रीयता पर विचार करना चाहिये।

## पूजाके समय खड़ाहोना चाहिये या बैठना?

चर्चा १३८ पृ० १३८—में पांडेजी ने अपने पंथीय-पक्ष का पूर्ण प्रदर्शन किया है। आप लिखते हैं कि "भगवान सर्वज्ञ देव की आज्ञा तो बैठ कर पूजा करने की है"। इसमें प्रमाण दिया है उसी जाली ग्रन्थ उमास्वामीश्रावकाचार का, जिसे हम अप्रमाणिक एवं बनावटी सिद्ध करचुके हैं। रही सर्वज्ञ आज्ञा की बात सो पांडेजी को यह ज्ञान ही कहां था कि सर्वज्ञ भगवान ने पूजा आदि का ही उपदेश नहीं दिया, तब वे उठ बैठ का तो देते ही कैसे? इस विषय में पात्रकेसरी स्तोत्र में सैतीसवां श्लोक यों है कि—

विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः ।
क्रियाबहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः ॥
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किंतु ता--
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥

निखिलतार्किक चूडामणि विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि मोक्ष के सुख से रहित कराने वाली चैत्यवंदना, दान, पूजा आदि स्वरूप में सभी क्रियायें नाना प्रकार प्राणियों के मरण और पीड़ा करने की कारण है। हे जिनेन्द्र! जाज्वल्यमान केवल-ज्ञान से युक्त हो रहे तुमने उन दान पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया है। केवल तुम्हारे भक्ति करने वाले श्रावकों ने उन क्रियाओं को स्वयमेव कर लिया है।

क्यों जी इस आगम के वाक्य अनुसार तो उपासका-ध्ययन या श्रावकाचार, दान, पूजा आदिके प्रकरण ये सब सर्वज्ञ देव के कहे हुये नहीं ठहरते हैं।

इससे सिद्ध होगया कि 'सर्वज्ञदेवकी आज्ञा बैठ कर पूजा करने की है' यह कथन पांडे जी के दिमाग़ का विकार है। इस विषय में पाडे जी कोई भी प्रमाणिक ग्रंथ का प्रमाण नहीं दे सके हैं और जो श्लोक दिये भी है वे बिलकुल असंवद्ध तथा विषयान्तर हैं। जैसे–आपने बैठकर पूजा करने के लिये पृष्ठ १२९ पर पद्मनन्दि पंचविंशतिका का एक श्लोक उद्धृत किया है, मगर जिन्हें संस्कृत का किंचित् भी ज्ञान होगा वे निःसंकोच कह देंगे कि यह श्लोक पूजा के लिये नहीं किन्तु ध्यान के लिये दिया गया है। वह श्लोक और उसका अर्थ लिखने के पहिले मैं पांडेजी के परस्पर विरोध और उनकी विस्मरणशीलता का नमूना बतला देना चाहता हूं। आपने पद्मनन्दि का एक श्लोक 'यः कल्पयेत' इत्यादि देकर उसे बैठकर पूजा करने में रखा है।

मगर वह मात्र सर्वज्ञ आज्ञा के लोपकों के लिये ही लिखा है। फिर भी पांडेजी ने उसका आश्रय लेकर लिखा है कि—

"बैठकर ही पूजन करना सर्वज्ञ की आज्ञा है। इसको जो नहीं मानता वह अंधे के समान आकाश की चिड़ियों को गिनता है।" और आप ही पृष्ठ २२५ पर आदिपुराण की संधि २३ के श्लोक १०६ को लिखते हैं। यथा—

अथोत्थाय तुष्टाःसुरेन्द्राः स्वहस्तैर्जिनस्यांघ्रिपूजां प्रचक्रुःप्रतीताः
सुगन्धैः समाल्यैः सदीपैः सधूपैः सदिव्याक्षतैःप्राज्यपीयूषपिण्डैः

अर्थात्—इन्द्र ने संतुष्ट होते हुए खड़े होकर सुगंधमाला, दीप, धूप, दिव्याक्षत, नैवेद्य आदि से भगवान की पूजा की। विज्ञ पाठको! ज़रा विचारिये तो सही कि पाण्डे जी की स्मरणशक्ति भी कितनी विशाल है कि जिनको थोड़े से पन्नों की भी बात याद नहीं रहती!

पृष्ठ १४१ में तो आप लिखते हैं कि "आपको चाहिए कि खड़े होने में ऐसे श्लोक व गाथा आदि बतलावें।" परन्तु स्वयं दिये हुए इस श्लोक से आपको पता नहीं चला कि इन्द्र, साक्षात् भगवान् के सामने ही प्रत्यक्ष दिव्यध्वनि सुननेवाला खड़ा होकर भगवान की पूजा करता है। क्या उसने भी यह बात दिव्यध्वनि में नहीं सुनी थी कि बैठकर पूजन की जाती है? पर इनको ये बात दृष्टिगोचर क्यों होने लगी थी? श्री पद्मनंदि-पंच विंशतिका के यति भावनाष्टक अधिकार का बैठकर पूजन करने के विषय में पांडे जी ने जो प्रमाण पृष्ठ १३९ पर दिया है उस पर वाचकवृन्द गहरी दृष्टी डालें कि यह श्लोक पूजन करने के समय का है या नहीं तथा उसकी पुष्टि करता है कि नहीं। यथा—

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्राम विधायोद्वसं ।
तत्संहृत्य गतागतौ च मरुतौ धैर्यं समाश्रित्य च ॥
पर्यंकेन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी ।
मध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तः सुखं ॥२॥

इस श्लोक का भाव यह है कि चित्त वृत्ति का निरोध करके और इन्द्रियों के विषयोंको नाश करके मोक्ष सुखकी प्राप्ति के लिए मैं पर्यंकासन से एकान्त रूप पर्वत की गुफा में मध्यस्थ भावों को प्राप्त करके आत्मिक सुखके प्रति स्थित होऊं।

सज्जनों ! इस श्लोक में केवल मात्र ध्यान की सिद्धि की कामना की गई है। पूजन करने की तो सुगंधि तक भी नहीं।

यदि यह कहा जाय कि ध्यान में पूजा आजाती है सो भी ठीक नहीं वन सकता। क्योंकि पूजनमें ध्यान तो वन सकता है, लेकिन ध्यान में पूजन नहीं वन सकती। जिस एकाग्र-चित्ता-निरोधक-ध्यान में आत्मिक रसकी प्राप्ति होती है, वहां पर अर्थात् उस ध्यानमें पूज्य पूजक भाव भी नहीं पाये जाते जिसके पुष्टिकर्ता समयसार आदि ग्रन्थ मौजूद हैं। यदि कहा जाय कि धर्मध्यान में ग्रहण हो सकती है सो भी नहीं वनता। कारण कि इस श्लोक में ऐसा कोई भी शब्द नहीं जो धर्मध्यान की ओर आकर्षित करे। इसमें तो शून्य पार्वतीय गुफा में ठहर कर आत्मीय ध्यान करने का उपदेश व कामना है। वह भी अनगारों को लक्ष्य करके। वहां पर प्रतिमा आदि का कुछ सम्बन्ध नहीं, जिससे पूजन का अर्थ निकाला जाय। अतएव यह श्लोक वैठकर पूजन करने को कदापि सिद्ध नहीं करता।

आगे वैठकर पूजन करने में पृ०१४२ पर एक प्रमाण उसी जालीग्रन्थ उमास्वामी श्रावकाचार का भी दिया है। यथा—

ग्रहे प्रवेशितावामभागे शिल्पाविवार्जिते ।
देवतासदनं कुर्यात् सार्द्धहस्तोर्ध्वभूमिकम् ॥

अर्थ—ग्रह के वाम भाग में विना शिल्प के अर्थात् जिसमें शिल्प शास्त्रों का आश्रय न लिया गया हो ऐसे चैत्यालयको डेढ़ हाथ ऊँची वेदिका सहित बनवावे। इससे यह सिद्ध कियाहै कि मन्दिरकी वेदी डेढ़हाथ ऊँची होनी चाहिये। इससे ऊँची बनवाना सर्वज्ञ की आज्ञा उल्लंघन करनाहै ओर जब वेदी डेढ़ हाथ ऊँची होगी तो पूजा बैठकर करने में अच्छा रहता है; आदि। अब पाठक ज़रा इस श्लोक की जांच करलें कि यह श्लोक भी कितनी सत्यता रखता है। पहिले तथा वर्तमान में जो कुछ मकान या मंदिर बनवाये गये और बनवाये जातेहैं वह प्रायः विना शिल्प शास्त्र के नहीं बनाये जाते हैं तो क्या जिनमंदिर विना शिल्प के ऊटपटांग ही बना देना चाहिये? और प्रमाण तो जाने दीजिये, लेकिन आपके ही प्रमाणभूत (जिसके हरजगह प्रमाण दिये गये) आपका जनक त्रिवर्णाचार (धर्मरसिक) भी आपका खण्डन करता है। यथा—

जैनचैत्यालयं चैत्यमुत निर्मापयेच्छुभम्।
वांछन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्रं न लंघयेत् ॥

अर्थ—अपनी व राजा आदिकी शुभ वांच्छा रखता हुआ जिन चैत्यालय व जिन प्रतिमा बनवावे, वास्तु शास्त्र (शिल्प शास्त्र) को उल्लंघन नहीं करे—शिल्प शास्त्र के अनुकूल बनावे।

अब मैं इन्हीं के अनुयाइयों से पूछता हूँ कि किनका कथन आपको प्रमाणीक है? दूसरी बात डेढ़ हाथ की वेदिका के प्रमाण में भी इसी प्रकार विरोध देखिये। ये तो कहते हैं कि डेढ़ हाथ से ऊंची नहीं हो और इन्हीं के पक्षकार त्रिवर्णाचार में लिखा है कि वेदिका मंदिर के अनुकूल ही बनवाना चाहिये।

यथा-"पीठबन्धं तथा कुर्यात् प्रासादस्यानुसारतः"। अब किसको प्रमाणिक समझें? एक के मानने में एक का खण्डन अवश्य ही हो जायगा। क्या यह बात पाडे चम्पालाल जी को नहीं दिखी होगी? दिखी तो जरूर ही होगी, पर बैठ के पूजा सिद्ध करना था, सो कोई न कोई तर्क तो सोचना ही चाहिये।

(जैनमित्र अंक १० वर्ष ३३)

पाडे जी ने आगे चल कर अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हुए यशस्तिलक चम्पु का एक श्लोक "उदङ्मुखं स्वयं तिष्ठेत्" आदि देकर लिखा है कि "यहा पर भी तिष्ठेत् क्रिया स्था धातु से बनी है, जिसका अर्थ गतिरहित होता है। इस तरह मौन सहित तिष्ठना या बैठना अर्थ होता है!" पाडे जी जिस प्रकार तिष्ठेत् का अर्थ गतिरहित करके उससे बैठने का तात्पर्य निकालते हैं उसी प्रकार गतिरहित का अर्थ खड़ा होना क्यों नही माना जा सकता है? क्या खड़े होने में पांडे जी गति क्रिया को मानते हैं? सचबात तो यह है कि एक पक्षी पुरुष को सर्वत्र अपनी ही बात दिखा करती है।

## पांडेजी की सभ्यता!

पांडेजी ने पृष्ठ १४० पर शुद्धाम्नायियों की मजाक उड़ाते हुए लिखा है कि "व्यवहार में भी देखा जाता है कि राजसभा से जिनको बैठने की आज्ञा है वे तो वन्दना आदि कर समीप जाकर बैठ जाते हैं, बैठे ही बैठे अपना सुख दुःख निवेदन करते हैं, दुःखों को दूर कराने के लिये अनेक पदार्थ भेंट कर उन दुःखों की शान्ति करालेते हैं, परन्तु जिनको राजसभा में बैठने का अधिकार नहीं है वह दूर खड़ा खड़ा ही पुकारता रहता है। यदि वह औरों को बैठा हुआ देख कर स्वयं भी समीप जाकर बैठ जाता है तो द्वारपाल लोग उसे हाथ पकड़ कर वहां से उठा

कर खड़ा कर देते हैं। इससे साबित होता है कि जो खड़े होकर पूजा करने का विधान करते हैं वे समीप बैठने का अधिकार नहीं रखते !" इत्यादि।

इस प्रकार खड़े होकर पूजा करने वाले तेरह पंथियों को नीचा बताकर पांडे चम्पालाल ने अपनी नीचता और असभ्यता का परिचय दिया है ! फिर भी उनकी इस तर्क पर पाठकों को तनिक विचार करना चाहिये। पांडे जी ने कभी राजसभा देखी थी या नहीं ?

क्या वास्तव में सताया हुआ दुखी फ़रियादी राज-सभा में राजा के पास बैठकर अपनी फ़रियाद किया करता है या खड़ा होकर ? दूसरे आप स्वयं लिख रहे हैं कि "जिनको बैठने की आज्ञा है वे वन्दना आदि कर समीप जाकर बैठ जाते हैं"। इसी से सिद्ध होता है कि वन्दना स्तवन पूजा आदि खड़े होकर करना चाहिये और फिर पीछे बैठना चाहिये। इसके अतिरिक्त पांडेजी ने जो बैठे २ भेंट करने की बात लिखी है यह उनकी अज्ञानता का नमूना है। कारण कि कोई भी आदमी महाराज को बैठे २ भेंट नहीं दिया करता, किन्तु खड़े होकर भेंट करता है। पांडेजी ने जो अनधिकारी को दूर खड़े २ पुकारने की और हाथ पकड़ कर उठा देने की बात लिखी है वह भी आपकी उच्छृङ्खलता की सूचक है। कारण कि यह दृष्टान्त खड़े होकर पूजा करने वालों के साथ लागू नहीं होती, किन्तु यह तो केवल आपके हृदय के काले उद्गार हैं। खड़े होकर या बैठकर पूजा करने में अधि-कार या अनधिकार की कोई बात ही नहीं है। यह तो मात्र पांडेजी के अभिमान की द्योतक है।

पांडेजी ने जो यह लिखा है कि "जो खड़े होकर पूजा करने का विधान करते हैं वे समीप बैठने का अधिकार नहीं

रखते !" यह भी उनकी तुच्छवृत्ति का द्योतक है ! मैं पूछता हूँ कि बैठकर पूजा करने वाले क्या भगवान से छिपकर कर बैठा करते हैं ? जितनी दूरी पर बैठने वाले पूजा करते हैं उतनी ही दूरी पर खड़े होने वाले करते हैं। दूसरी बात यह है कि राजा के जो सेवक होते हैं, छत्र लगाने वाले होते हैं और चमर ढोरने वाले होते हैं, वे सब खड़े २ ही अपना कर्तव्य किया करते हैं, ऐसे काम बैठकर नहीं होते हैं। उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के सेवक, पूजक, चमरढोरने वाले और उनकी स्तुति पढ़ने वाले सब खड़े होकर ही यह सब क्रिया करते हैं। इन्द्रगण भी भगवान की पूजा, अभिषेक आदि खड़े होकर ही करते हैं; तब क्या वे कान पकड़कर निकाल दिये जाते हैं ? पांडेजी की एक एक कुतर्क का कहां तक उत्तर दिया जाय ? उनमें कुछ तत्व तो है ही नहीं, मात्र पन्थीयपक्ष में अन्ध होकर ही उल्टा सीधा लिख मारा है और एक पोथाना तैयार कर दिया है, जिसे गोबरपंथी लोग छाती से चिपकाये और सिर पर चढ़ाये फिरते हैं !

पांडेजी ने पृ० १८१ पर एक कुतर्क की है कि 'क्या पूजा में पद्मासन से बैठ कर भाव नहीं लग सकते ? यदि हो तो शास्त्र प्रमाण दीजिये।" इसी प्रकार तो इधर से भी पूछा जा सकता है कि क्या खड़े होकर पूजा करने में भाव नहीं लग सकते ? यदि हो तो शास्त्र प्रमाण दीजिये। मैं तो पांडेजी को खड़े होकर पूजा की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण दे सकता हूँ। यथा—

"अथोत्थाय तुष्टया सुरेन्द्राः स्वहस्तैः।
जिनस्यांघ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः॥

—आदिपुराण।

"चउरंगुलंतरपादो" इत्यादि मूलाचार में है और वर्तमान में जो पूजा करते हुये राजा महाराजाओं या गृहस्थों के प्राचीन चित्र मिलते हैं, वे भी सब खड़े हुये देखे गये हैं। इत्यादि बहुत कुछ लिखा जा सकता है। मगर साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण विशेष लिखना उचित नहीं समझता हूँ। यह प्रकरण और इससे आगे भी जो कुछ मुझे ऐसे विषय पर लिखना पड़ा है वह पांडे जी के अधम, कलुषित एवं व्यर्थ आक्षेपों के निराकरण के वश होकर ही लिखा है। पाठक क्षमा करेंगे, मैं नहीं चाहता कि साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़े।

पाडे जी ने एक मज़ाक़ सा उड़ाते हुए लिखा है कि "यदि खड़े होकर पूजा करने में विनय है तो शास्त्र सभा में भी खड़े रहना चाहिये। खड़े होकर ही शास्त्र पढ़ना चाहिये। यदि एक पैरसे खड़े हो कर पूजा की जाय तो और भी अधिक पुण्य लगेगा!" इत्यादि यह भी पाडे जी की साम्प्रदायिक बुद्धि का नमूना है। उन्हें यह खबर नहीं थी कि प्रत्येक कार्य समयानुकूल होते हैं। जो लोग बैठ कर पूजा करते हैं वे आरती तो खड़े होकर ही करते हैं, उसे भी क्यों बैठ कर नहीं करते? दूसरे शास्त्र में तो ज्ञानाभ्यास किया जाता है, और पूजा में तो विनय, दुःख-निरूपण, प्रार्थना और स्तुति आदि होती है जिसे कि व्यवहार में राजा महाराजा के पास भी खड़े होकर करना पड़ता है। दूसरे जैसे पांडे जी ने विपक्षियों को खड़े होने की अपेक्षा एक पांव से खड़े होने की चोट की है वैसे ही तो दूसरे भी कह सकते हैं कि बैठने की अपेक्षा लेट कर (पड़े हुये) पूजन क्यों न की जाय? इत्यादि बातों में क्या तथ्य है? पांडे जी ने पृष्ठ १४२ पर लिखा है कि "मन्दिर में वेदी डेढ़ हाथ से नीची बनावे तो नीच से नीच संतान उत्पन्न होगी, और डेढ़ हाथ से ऊँची वेदी बनावे तो आज्ञा भंग का महादोष लगताहै!"

यह ऊटपटांग कथन मात्र बैठ कर पूजा करने की सिद्धि के लिये है। मगर इसमें न कोई युक्तिहै और न शास्त्रीयप्रमाण, किन्तुउसी जाली उमा० का एक श्लोक रख दिया है। चर्चा-सागर भक्तों को चाहिये कि जिनमन्दिरों की डेढ़हाथ से ऊंची नीची तमाम वेदियां उखाड़ कर फेंक देवें! अन्यथा नीच संतान होगी और महादोष लगेगा। सच बात तो यह है कि पांडेजी को यह भी भान नहीं था कि समवशरण में कितनी ऊंची वेदिका बनाई जाती है, अन्यथा ऐसा नहीं लिखते।

## पूजा के वस्त्र।

चर्चा १४१ पृ० १४४—शांतिक पौष्टिक के लिये सफ़ेद वस्त्र पहनकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। शत्रु-विजयके लिये काले वस्त्र-कल्याण के लिये लालवस्त्र, राजभय निवारण के लिये हरे वस्त्र, ध्यान प्राप्ति के लिये पीले वस्त्र और किसी कार्यसिद्धि के लिये पांचों रंगों के वस्त्र पहिनना चाहिये। (चर्चा १४२-) जो ऐसा नहीं करता है उसका दान पूजादि कार्य सब व्यर्थ जाता है!

यहां पर भी वस्त्रों के रंग का आग्रह किया गया है। ऐसे वस्त्र न पहिनने वाले की पूजा क्रिया व्यर्थ है! आजकल जो विना रंगके वस्त्र पहिनकर पूजा की जाती है क्या वह सब अकारथ ही जाती होगी? अथवा जिनपूजा क्या शत्रुविनाश और राजभय-निवारण आदि के लिये होती है? सोचिये कि इसमें कहां तक तथ्य है? इन रंगविरंगे वस्त्रों के विषय में भी प्रमाण अपने जनक त्रिवर्णाचार का दिया गया है। कारण कि ऐसे ढोंग धतूरों के लिये आर्षप्रमाण कहाँ से मिल सकते हैं?

## चंदनपूजा में परस्पर विरोध।

चर्चा १४३ पृ० १४५—में पांडेजी ने त्रिकालपूजा

की विधी लिखी है, उसमें उमास्वामी का श्लोक दिया है कि "चंदनं विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन" अर्थात्—चन्दन के विना तो कभी भी पूजा नहीं करनी चाहिये। किन्तु ठीक इससे विरुद्ध पांडेजी ने लिखा है कि प्रभातकाल में चन्दन से, मध्याह्नकाल में पुष्पों से और सायंकाल में दीपधूप से पूजा करनी चाहिये। अब विचार करिये कि उमास्वामी (!) की 'कदाचन' अर्थात् 'कभी भी चंदन बिना पूजा न करें' वाली आज्ञा मध्याह्नपूजा और संध्यापूजा में कहां रहती है ?

दूसरा विरोध—यहां पर तो प्रभात कालमें चन्दन से ही पूजा करने का विधान किया है और पृष्ठ १४८ पर लिखा है कि—

*गंधधूपाक्षतैः सद्भिः प्रदीपैश्च विचारिभिः ।*
*प्रभातकाले पूजा वै विधेया श्री जिनेशिनां ॥*

अर्थात्—प्रभातकाल में जिनेन्द्र भगवान की पूजा गंध, धूप, अक्षत और दीपादि से विद्वानों को करना चाहिये। यह श्लोक भी उमास्वामी श्रा० का है और प्रभात में चंदनपूजा ही बताने वाला श्लोक भी उमा० का है। क्या आचार्यवर्य उमास्वामी महाराज ऐसे विरोधी बचन लिख सकते थे। वास्तव में यह उमा० श्रा० जाली ग्रन्थ है, जिसके बल पर पांडेजी खूब ऐंठे हैं! इसके अतिरिक्त उमा० श्रा० का प्रमाण देकर 'पुष्पपूजा' के विषय में भी एक अनोखी बात लिखी है। वह इस प्रकार है—

चर्चा १४५ पृ० १४६—पूजा में पूरा पुष्प ही चढ़ाना चाहिये, फूलों की पंखुड़ियाँ चढ़ाने में जीवहिंसा के समान पाप लगता है!

कैसी विचित्र बुद्धि है! पूरे फूल (जिसमें जीव जंतु

रहना भी संभव है ) चढ़ाने से तो पुण्य मिलता है और शोध बीनकर फूल की पांखुड़िया चढ़ाने में जीवहिंसा हो जायगी ! न जाने यह कौनसा अहिंसा शास्त्र है ?

पाडे जी ने पृ० १४७ पर लिखा है कि "सबसे पहिले भगवान के चरणों पर गंध लेप करना चाहिये। फिर अक्षतादि से पूजा करना चाहिये। कारण कि "श्रीचन्दनं विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन"। यहा पर चन्दन विना पूजा कभी भी नहीं करना चाहिये, इसका अर्थ "चन्दन का लेप चरणों में करना चाहिये" न जाने पांडे जी ने कहां से निकाला। यदि इसका अर्थ लेप करना ही हो तब तो अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल आदि सब भगवान के ऊपर ही चढ़ाना चाहिये ! यदि यह द्रव्य दूर थाली में चढ़ाये जाते हैं तो चन्दन भी दूर क्यों न चढ़ाया जाय। वीतराग भगवान की सौम्य मूर्ति को चन्दन लगाकर उसे सराग या शृंगारमय बनाने से क्या लाभ है ? वीतराग मूर्ति के ऊपर लेप और पुष्पादि चढ़ाने की क्या आवश्यक्ता है ? इसका विशेष विवेचन चर्चा नं० १६८ की समीक्षा में देखिये।

## ध्यान करने और मन्दिर जाने की विधि !

चर्चा १४७ पृ० १४८—भगवान की वन्दना ध्यान आदि दाहिनी ओर खड़े होकर करना चाहिये। चर्चा ( १४८ ) स्त्रियों को बांई ओर खड़े होकर करना चाहिये। सामने खड़े होकर नहीं करना चाहिये।

पाठकों को यहां पर विचार करना चाहिये कि यदि भगवान का मुख पूर्व की ओर हो और कोई स्त्री उक्त चर्चानुसार बांई ओर खड़ी होकर पूजा ध्यान नमस्कार आदि करेगी तो उसका मुख दक्षिण की ओर होगा। ऐसी अवस्था में तो चर्चा

नं० १३७ के अनुसार उसके संतति उत्पन्न ही नहीं होगी ! ऐसा विरोधी विधान कैसे किया गया ?

चर्चा १४६ पृ० १४८—स्नान करके मन्दिर में जावे और पैर धोकर अपने मस्तक से श्री जिनेन्द्र मंदिर के किवाड़ खोले । उस समय यह मंत्र पढ़ना चाहिये—"ॐ ह्रीं अर्हंकपाटमुद्धाटयामीति स्वाहा ।"

यह विधि कैसे मज़े की है ! मन्दिर के किवाड़ हाथों से न खोलकर बैलों की तरह मस्तक से खोलना चाहिये ! और उसमें भी मंत्र पढ़ना चाहिये । जैनधर्म का यह गहरा तत्व (!) पंडित चम्पालाल जी ने न जाने कहां से निकाला है !

इससे आगे चलकर तो पाडे जी ने पूजा विधान में बड़ी ही चतुराई से पाखण्ड घुसेड़ दिया है । उसे पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा । देखिये—

चर्चा १४६ पृ० १५८—पूजा करने वाले को दर्भासन पर बैठकर दाभको दीपक से जलाकर भस्म करना चाहिये ! फिर जलधारा देकर बुझा देना चाहिये। फिर आचमनी ( छोटी चमची ) से जल लेकर मस्तकपर डालना चाहिये ! फिर प्रत्येक मन्त्र पढ़ते हुए दोनों हाथों के अंगूठों को हृदय, ललाट, मस्तक और मस्तक के दाईं बाईं ओर नमस्कार पूर्वक स्पर्श करना चाहिये। इसी प्रकार शिरकी नैऋत्य, वायव्य आदि दशों दिशामें, दाईं भुजा,बाईं भुजा,नाभि,दाहिनी आंख,बाईं आंखमें अंगन्यास करे । फिर मस्तक और चोटी का मंत्र पूर्वक स्पर्श करके चोटी में गांठ बांधे । फिर कंधे से लेकर समस्त शरीर को स्पर्शकर दोनों हाथों से ताली बजाकर शब्द करना चाहिये ! इत्यादि।

कोई भी जानकार इस चर्चा को पढ़कर कह सकता है कि ग्रन्थकर्ता पर वैष्णव या अन्य लोगों की पूजा की छाप पड़ी

हागी। अंगोंको पकड़ना, ताली बजाना, मस्तकपर चमची से पानी डालना आदि यह सब क्या है ? इतना ही नहीं, यहां तो प्रत्येक बात के मंत्र भी बनाये गये हैं। इसका विस्तृत विधान तो करीब ३० पेज में किया गया है !

एक जगह तो पांडे जी ने और भी गज़ब किया है ! देखिये—

पृष्ठ १५२ चर्चा १४९ में गृहस्थो की पूजा की विशेष विधि बताते हुए पांडे जी लिखते हैं कि ईर्यापथ-शुद्धि से पहले लगे हुए पापों का निराकरण कर निम्न श्लोक पढ़कर अपने मुखपर के वस्त्र को हटाना चाहिये। वाह ! कैसा नया विलक्षण विधान है। पाठकवृन्द विचार करें कि मंदिर जी में क्या कपड़े से मुख ढककर जाना चाहिये ? तथा ऐसा करने से ठीक तरह ईर्यापथ शुद्धि भी किस तरह हो सक्ती है और मन्दिर में मुख ढाककर जाना क्या प्रयोजन को सिद्ध करता है ? वास्तव में न तो कोई ये लौकिक प्रथा है न कोई सैद्धान्तिक बात है किन्तु ग्रंथकर्ता की अनभिज्ञता है जिसे न समझकर लिख मारा है। यथा—

कनत्कनकघटितं विमलचीनपट्टोज्वलं।
बहुप्रकटवर्णकं कुशलशिल्पिभिर्वर्णितं॥
जिनेन्द्रचरणाम्बुजद्वयं समर्चनीयं मया।
समस्दुरितापहृत् वदनवस्त्रमुद्घाटयते॥

इसका अर्थ सम्पादक जी महाशय ने अपने लगाये हुए फुटनोट में इस तरह पर किया है जो बिलकुल असंबद्ध और बिलकुल बेढंगा तथा ग्रंथकर्ता की तरह साफ़ तौरपर ग़लत साबित होताहै। यथा—अर्थ-"जो दैदीप्यमान सुवर्ण के समान हैं, सफ़ेद रेशमी वस्त्र के समान निर्मल हैं, जिनकी अनन्त

महिमा प्रगट है। चतुर कारीगर भी जिनका वर्णन करते हैं, जो समस्त पापों को दूर करने वाले है । ऐसे श्री जिनेन्द्र देव के चरणों की पूजा करना ही चाहिये। इसलिये मैं अपने मुख वस्त्र को हटाता हूँ।"

सबसे पहिले तो इसमें जो सुवर्ण के समान आदि विशेषण चरणों के किये हैं वह ही गलत हैं। दूसरे जो सुवर्ण के समान हैं उनको फिर सफ़ेद रेशमी वस्त्र के समान कहना विपरीतता है। अब पाठकों को इसका अर्थ बतलाने के पहले ये बतला देना योग्य समझता हूँ कि यह श्लोक कहां का है और इसका शुद्ध पाठ कैसा होना चाहिये ! ये श्लोक त्रिवर्णाचार के अ०५ के पृ० १२५ पर नं० ५ में दर्ज है, जिसमें "कनत्कनक घटितं" की जगह "क्वणत्कनकघंटिकम्" ऐसा लिखा है तथा "कुशलशिल्पिभिर्निर्मितम्" ऐसा पाठ है। यह तो शब्दों का फेर फार है। अब वास्तविक इसका अर्थ क्या होना चाहिये उस पर दृष्टिपात करें।

**वास्तविक अर्थ**—सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाले श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों की मुझे पूजा करना चाहिये; इस लिये शब्द करती हुई सुवर्ण की घंटिकावाला चतुर कारीगरों द्वारा निर्मापित ऐसे निर्मल सफ़ेद रेशमी मुख वस्त्र को ( भगवान के मुख के सामने पड़े हुए पर्दे को ) मैं हटाता हूं। इसका मतलब तो है भगवान के सामने का पर्दा हटाने का, किन्तु चर्चासागर के सम्पादक पं० लालाराम जी शास्त्री (!) और पांडे चम्पालाल जी अपने मुखका पर्दा हटवाते हैं। वर्तमान में कितनी ही जगह अब भी भगवान के सामने पर्दा रहता है जिसको हटाने के आशयको न समझकर तथा श्लोक में दिये गये विशेषणों को किसी का किसी में लगाकर किसी का भी अर्थ ठीक न कर ऊटपटांग अर्थ लगा डाला।

पांडेजी ने उस सीधे सादे श्लोक का अर्थ अपने मुंह से वस्त्रहटाना किया सो तो यह उनकी संस्कृतानभिज्ञता है। मगर अनेक ग्रन्थों के टीकाकार और चर्चा-सागर के भाषान्तर-कार पं० लालारामजी शास्त्री ने भी पांडेजी के अनुकूल अर्थ करके विद्वन्मण्डली में अपनी हंसी कराई है। यह कितने दुःख की बात है। यदि आपने त्रिवर्णाचार के पृ० १२५ पर पं० पन्ना लालजी सोनी द्वारा किये गये इसी श्लोक के अर्थ को देख लिया होता तो ऐसी भूल कदापि न होती। सोनी जी ने स्पष्ट लिखा है कि भगवान के मुख पर पड़े हुये परदे को हटाना चाहिये। यदि ऐसा अर्थ न मान कर पांडे जी या पंडित जी का ही अर्थ माना जाय तो क्या उनके मतव्यानुसार लोग घर से मन्दिर तक मुंह पर मुसलमानी बीवियों की तरह बुरका डाल कर जाते हैं? कुछ समझ में नहीं आता कि आपने ऐसा अर्थ कैसे कर डाला?

## पाखण्ड पूजा।

चर्चा १४६ पृ० १५४—में पांडेजी ने पाखण्डपूजा का प्रदर्शन किया है। पाठक देखेंगे कि इसमें कितना मिथ्यात्व, कितना अज्ञान, कितना अनाचार और कितना विरोधी कथन है। सर्व प्रथम लिखा है कि "मंत्रपूर्वक अष्ट द्रव्यसे भूमि पर अर्घ चढ़ाना चाहिये। फिर पृथ्वी को साफ करे। फिर पूर्व दिशा और ईशान विदिशा के मध्य में अर्घ देवे। फिर पृथ्वीपर छींटे देना चाहिये। फिर ईशान और उत्तर दिशा में मेघकुमार को अर्घ देना चाहिये। फिर अग्निकुमार नागकुमार को अग्निकोण और ईशान कोण में अर्घ देना चाहिये फिर क्षेत्रपाल को आह्वान स्थापन सन्निधिकरण करना चाहिये और अर्घ देना चाहिये। फिर पुष्पांजलि देकर अष्ट द्रव्य चढ़ाना चाहिये (पृ० १५५)। फिर अष्ट द्रव्य से भूमि की पूजा करना चाहिये। फिर यंत्र की

दाईं ओर बैठकर मंत्र पढ़ना चाहिये। यहां पर हर एक बात के मंत्र दिये गये हैं, फिर जल धारा छोड़ कर मौन की प्रतिज्ञा लेना चाहिये। बादमें शरीर शुद्धि करना चाहिये। फिर मंत्र पढ़ कर हाथ धोना चाहिये। फिर जल से पात्र शुद्धि करके जलके छींटा मात्र देकर द्रव्यशुद्धि करना चाहिये। फिर विद्यागुरु और परमेष्ठी को अर्घ देना चाहिये।" इत्यादि बहुत कुछ ऊटपटांग कथन है जिसकी संक्षिप्त समीक्षा इस प्रकार है—

१—पाठकों को मालूम होना चाहिये कि यह प्रकरण प्रातःकाल की पूजा का है। कारण कि इस ( १४९ ) चर्चा में प्रातःकाल से उठकर शौचादि से निवृत्त होकर मन्दिर जाने को लिखा है और उसी समय का सारा वर्णन है। मगर पृष्ठ १४५ पर पांडे जी यह नियम लिख आये हैं कि—

*प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या विचक्षणैः।*
*मध्याह्ने कुसुमैः पूजा संध्यायां दीप धूप युक्॥*

अर्थात्—प्रातः काल मात्र चन्दन से, मध्याह्नको पुष्पों से और संध्या को दीप धूप से पूजा करना चाहिये। परन्तु पृ० १५४ पर उस नियम को भूलकर प्रभात में अष्ट द्रव्य से पूजन करने का विधान कर दिया है।

२—पहिले मंत्र पूर्वक अष्ट द्रव्य चढ़ाने को लिखा है और पीछे भूमिशुद्धि बताई है। क्या अष्ट द्रव्य चढ़ाकर भूमि शुद्धि की जाती है?

३—ईशान दिशा, आग्नेय दिशा तथा मंत्र की दाईं ओर बैठकर अर्घ देना लिखा है, मगर यह ख्याल नहीं किया कि इन विदिशाओं में मुख होने से ( पाण्डे जी के कथनानुसार ) सन्तति नाश और सर्व विनाश होजायगा। कारण कि विदिशा-पूजा का निषेध आपही कर आये हैं। वीतराग जिनेन्द्र भगवान

की पूजा उत्तर पूर्व के अतिरिक्त अन्य दिशा में करने से तो विनाश हो जायगा, मगर अग्निकुमार नागकुमार दिक्कुमार तथा क्षेत्रपाल पद्मावती भैरव भवानी आदि सरागियों की पूजा विदिशाओं में करने से कुछ नहीं होगा! क्या इस अंधेर और अज्ञान का भी कोई ठिकाना है?

४—जबकि क्षेत्रपाल को रक्षक के रूप में माना है तब उसे "अत्र अवतर २, अत्र तिष्ठ २, अत्र मम सन्निहितो भव २ वषट्" करके बुलाने की क्या आवश्यक्ता है? कारण कि आपके मन्तव्यानुसार तो वे भगवान के साथ ही रहते हैं। इसलिये जब भगवान का आह्वान किया जायगा तब क्षेत्रपाल आदि तो आवेंगेही! किसी महाराजा को आमंत्रण देते समय उसके साथ अंगरक्षक को आमंत्रण नहीं दिया जाता है, वह तो आवेगा ही!

५—खेद है कि क्षेत्रपाल को अष्टद्रव्यों से पूजा करने का विधान किया गया है और वह भी जिन पूजा से पहिले! सिद्धान्तसार में तो स्पष्ट लिखा है कि—

परमेष्ठिन एवाहोन क्षेत्रपालकादयाः।

अर्थात्—परमेष्ठी की ही पूजा की जाती है, क्षेत्रपाल आदि की नहीं की जाती है। जैनधर्म तो वीतराग देव के अतिरिक्त तमाम पूजाओं को मिथ्यात्व बतलाता है। यथा—

*जिनदेवो भवेद्देवस्तत्वं तेनोक्तमेव च।*

*यस्येति निश्चयः सः स्यान्निःशंकित शिरोमणिः*

—पद्मनन्दिपंचविंशतिका।

यहां पर जिनेन्द्र वीतराग भगवान को ही देव बतलाया है। तथा 'तत्रार्हन देवता' अर्थात् अर्हन्त ही देवता हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त विद्वज्जन बोधक के पृ० २२५ पर चर्चासागर का ही एक श्लोक उद्धृत किया गया है कि—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यंतराद्यश्च देवताः ।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ॥

अर्थात्-तीन जगत के देव अर्हन्त भगवान और व्यन्तरादिक देवता को पूजा विधान में समान देखता हुआ प्राणी दूरवर्ती अधोलोक में जाता है। फिर भी समझ में नहीं आता कि ऐसे वीतराग धर्म में सरागी क्षेत्रपाल पद्मावती के पूजने का विधान क्यों किया है ? यदि बुद्धिपूर्वक विचार किया जाय तो यह सम्यकदृष्टि देव भी नहीं हैं। कारण कि भवनत्रिक में सम्यक्ती उत्पन्न नहीं होते हैं। पद्मावती की स्त्री पर्याय है, किंतु स्त्रीपर्याय में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता यह नियम है। क्षेत्रपाल पद्मावती आदि पर्याय में तो नियम से मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। कार्तिकेय स्वामी ने कहा है कि—

*भत्तीए पुज्जमाणो वितरदेवो विदेदि जादि लच्छी ।*
*तो कि धम्मं कीरइ एवं-चिन्तें हि सद्दिट्ठी ॥*

अर्थात्- यदि भक्ति पूर्वक पूजा किये गये व्यन्तरादि देव लक्ष्मी देने लगें तो फिर धर्म क्या करेगा ? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को विचार करके पद्मावती या क्षेत्रपाल आदि की पूजा नहीं करना चाहिये। किन्तु खेद का विषय है कि पाडे चम्पा लाल एक ग्रन्थकार बनकर क्षेत्रपाल जैसे कुदेवों की अष्ट द्रव्य से पूजा करना बतलाते हैं और वह भी अरहन्त भगवान की पूजा के पहले।

५—क्षेत्रपालादि की पूजा दूर रहो, मगर भूमि की भी अष्ट द्रव्य से पूजा करना लिख दी है ! यह कितना मिथ्यात्व है ? बाद में क्षेत्रपाल, भूमि और नागकुमार आदि की पूजा करके फिर हाथ धोने का विधान किया है। तो क्या पहिले

विनाही हाथ धोये अर्घ चढ़ाया जाता है या उक्त देवताओं को अर्घ चढ़ाकर हाथ अपवित्र हो जाते हैं ? अर्हन्तदेव की पूजा के लिये क्षेत्रपालादि की पूजा के बाद हाथ धोनेमें क्या रहस्य है ?

६—पूजा के वर्तन तो जल से धोकर शुद्ध करने को लिखा है, मगर पूजा का द्रव्य मात्र जल के छींटे देकर ही शुद्ध करलेने का विधान क्यों बतलाया ? क्या चावल, फल और मेवादि विनाधोया ही चढ़ाना चाहिये ? हां, पाडेजी का तो यही उद्देश्य मालूम होता है। कारण कि भट्टारक लोग उस चढ़े हुये द्रव्य को वेच कर पैसा पैदा किया करते हैं, इसी स्वार्थ के कारण द्रव्य पर मात्र छींटे दे देने का ही विधान कर डाला गया मालूम होता है। यदि उसे धोया जाय तो फिर पैसे पैदा नहीं हो सकते। देखिये कितना स्वार्थ है ? क्या ऐसे स्वार्थ-विधायक एवं मिथ्यात्व-प्रचारक चर्चासागर को जिनागम मानना शास्त्र मूढ़ता नहीं है ?

## तिलक महिमा और चन्दन पूजा।

पृष्ठ १६२ पर तिलक लगाने की विधि लिखी गई है। इस के पूर्व भी इसी चर्चा नं० १४९ में पूजा के नाम पर कितना पाखण्ड भर दिया है यह संक्षेप में वर्णन करना भी कठिन है। इस प्रकरण को पढ़कर पाडे चम्पालाल जी के जैनी होने में भी सन्देह होने लगता है। इसमें सकलीकरण, पुण्याहवाचन जैसी अनार्ष और मिथ्या क्रियाओं के विवेचन में कई पृष्ट काले कर डाले गयेहैं। अब आगे चंदन और तिलक की महिमा भी देखिये।

पांडे जी लिखते हैं कि "पूजा के समय भगवान के चरणों में जो चन्दन लगाया था और उसमें से जो बचा था उस चन्दन से पूजा करने वाले को तिलक लगाना चाहिये। अन्य चन्दन से तिलक लगाना योग्य नहीं है।" इत्यादि ! विचार

शील पाठक इस मनगढ़ंत आज्ञाका भेद समझ गये होंगे ! इसका तात्पर्य यह है कि जो शुद्धाम्नायी भी तिलक करने की इच्छा रखते हैं उन्हें भी भगवान के चरणों पर चन्दन लगाना चाहिये ! और फिर लगाने से जो बचे उसी से तिलक करना चाहिये। यदि कोई यों ही चन्दन घिसकर तिलक लगा लेगा तो पांडेजी के मतानुसार वह भयंकर पाप हो जायगा।

पांडेजी अपनी इस चाल में पूर्वापरविरोध को बिलकुल भूल गये हैं। आपने यहा ( पृ० १६२ ) पर तो लिखा है कि भगवान के चरणों पर चन्दन लगाने के बाद जो बचा रहे उसी से तिलक करना चाहिये, किन्तु पृष्ट २१९ पर लिखा है कि "चन्दन केशर अथवा पुष्पमाला में पापों के काट देने का गुण नहीं है, यह गुण तो भगवान के चरणों का है। उन चरणों के स्पर्श करने से ही उसमें वह गुण आजाता है। इसलिये चरण-स्पर्शित चन्दन का ही तिलक करना चाहिये।"

इससे मालूम होता है कि पांडेजी भगवान के चरणों पर लेप किये हुये चंदन से तिलक करना ठीक मानते हैं, मगर पृ० १६२ पर बचे हुये चंदन से तिलक लगाना बताया है। यही तो परस्पर विरोध है। यदि नहीं तो क्या उस बचे हुये चन्दन की कटोरी में प्रतिमा जी को उठाकर चरणस्पर्श कराने के लिये खड़ा करना चाहिये ? अन्यथा किस प्रकार तमाम चन्दन से चरण स्पर्श होगा ? अथवा क्या पांडेजी का यह तात्पर्य है कि चरणों पर के लगे हुये चन्दन को छुटा छुटा कर तिलक करना चाहिये। उससे तो और भी अधिक पुण्य संचय हो जायगा। कारण कि उस चन्दन का चरणों से प्रगाढ़ संसर्ग हो गया है। क्या वास्तव में इन तूतों में कुछ तथ्य है ?

पृ० १६२ पर जो तिलकों के छत्राकार, चक्राकार, चन्द्रा कार, मानस्तंभाकार, सिंहासनाकार और त्रिदंडाकार आदि

भेद बतलाये हैं उन्हें पढ़ कर तो हंसी आजाती है। इस विषय का हैडिंग भी प्रकाशक जी ने बड़े २ अक्षरों में छपाया है। मानो, यह विषय ग्रन्थभर में सब से अधिक महत्व रखता हो!

शूद्र पूजाधिकार—पांडेजी ने तिलक चिह्नों को वर्णानुसार विभाजित करते हुये पृ० १६३ पर लिखा है कि "शूद्रों को चक्राकार तिलक करना चाहिये ? तथा गृहस्थों को तिलक के ऊपर जिनपादार्चित् अक्षतों को एक अंगुलमात्र लगाना चाहिये और आसिका के अक्षत अपने ललाट पर चढ़ाना चाहिये।"

यहां पर विचार यह होता है कि तिलक तो जिन चरणस्पर्शित चंदन से लगाना चाहिये और अक्षत एवं आसिका भी पूजा करके प्राप्त की जा सकेगी, तब क्या पांडेजी का मतलब यही नहीं है, कि शूद्र भी पूजा कर सकता है, भगवान को स्पर्श कर सकता है, उनके चरणों पर चन्दन लगा सकता है, और छुटाकर तिलक कर सकता है, इत्यादि! यहा पर धर्म डूबा, धर्म डूबा चिल्लाने वालों की बुद्धि क्यों काम नहीं करती है ? आगे तिलक लगाने का हेतु पंचपरमेष्ठी को अपने अङ्गों में स्थापित करने का बताया है, तो क्या शूद्र भी अपने तमाम अंगों में पंचपरमेष्ठी की स्थापना कर सकते है। क्या इसमें पांडेभक्त पण्डितों को कोई विरोध नहीं होगा ?

## पञ्चपरमेष्ठी का शरीर में धारण!

पांडेजी को आम्नाय पक्ष इतना प्रबल था कि उसके सामने उन्हें सत्य, असत्य, प्रमाण अप्रमाण और पूर्वापर विरोध का तनिक भी भान नहीं रहा। आपने मात्र चन्दनपूजा की महिमामें ही कई पृष्ठ काले कर डाले है। जैसे सुधासिन्धु वाले

अपने विज्ञापन में लिखते हैं कि यह एक ही दवाई कई रोगों पर काम आती है, ठीक उसी प्रकार पांडेजी ने भी चन्दन की महिमा गाते हुये लिखा है कि यह ब्रह्महत्या के पाप को भी दूर कर देने वाला है, पुण्य का वर्धक है, रोग शोक संताप का विनाशक है और आभूषणों में भी काम आसकता है। यह सभी वर्णन संक्षेप से आगे किया जायगा। अभी तो पांडेजी की एक अजब सूझ को देखिये। आप पृ० १६४ पर लिखते हैं कि—

"पंचपरमेष्ठी को अपने अंगों में स्थापित करनाही तिलक करने का अभिप्राय है। वे तिलक पंचपरमेष्ठी के चिह्न हैं। अरहंतों को ललाट पर स्थापन करना चाहिये, सिद्धों को हृदय में, आचार्यों को कंठ में, उपाध्यायों को दाहिनी भुजा में, और सर्वसाधुओं को बाईं भुजा में स्थापन करना चाहिये। यही तिलक करनेका हेतु है।"

इसके लिये कहीं से डेढ़ श्लोक उड़ाकर प्रमाण में रख दिया है और आगे लिखा है कि "इनके सिवाय कर्ण उदर आदि अन्य अंग उपांगों में भी तिलक करना कहा है।" किन्तु इन अंग उपांगों में किसी देव की स्थापना नहीं बतलाई, फिर न जाने इन स्थानों पर तिलक करने का क्या हेतु है? कारण कि ऊपर तो पांडेजी लिख चुके हैं कि "पञ्च परमेष्ठियों की स्थापना करना ही तिलक लगाने का हेतु है!"

क्या पाठक गण पांडेजी के इस पाखण्ड पर विचार करेंगे? चन्दन के तिलक लगाकर परम पूज्य परमेष्ठियों को अपने अंग उपांगों में उतारना मूर्खता और पाखण्ड नहीं तो क्या है? क्या किन्हीं आर्ष ग्रन्थों में ऐसा कथन पायाजाता है? अथवा यह बात किसी युक्ति से सिद्ध हो सकती है? और क्या कोई बुद्धिमान् ऐसी कल्पना को योग्य मान सकता है? अधिकतर देखा जाता है कि वैष्णवों में ऐसी प्रथा है कि वे ९

स्थानों पर नाना प्रकार के तिलक किया करते हैं, उसी रंग में पाडेजी ने भी लिखमारा मालूम होता है।

पूर्वापर विरोध—पांडे जी ने ऊपर तो लिखा है कि तिलक अंगों में पंचपरमेष्ठियों की स्थापना के लिये ही किया है, मगर ठीक इसके नीचे ही आप लिखते हैं कि "भगवान के चरणस्पर्शित चन्दन से तिलक करना चाहिये और उसी चन्दन से समस्त शरीर पर आभूषणों का चिह्न करना चाहिये"। यहाँ पर तिलक लगाने का हेतु आभूषण मान लिया गया है ! क्या ऐसा पूर्वापर विरोधी ग्रंथ जैनशास्त्र हो सकता है ?

सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि तिलक लगाने और उसमें पंचपरमेष्ठी को स्थापित करने तथा आभूषणों की कल्पना करने की विधि पूजा करने के पहिले की है और वह तिलक जिन चरणस्पर्शित चन्दन से ही करना चाहिये। किन्तु चन्दन-पूजा किये बिना तिलक के लिये चन्दन कहां से आयेगा ? और चन्दन का तिलक लगाये बिना पूजा कैसे की जा सकती है ? कारण कि पृष्ठ २२१ पर स्पष्ट आज्ञा दी है कि 'जिन पूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना।' क्या इस अन्योन्याश्रय का भी कोई गोबरपंथी उत्तर देगा ?

चन्दन भक्ति—पांडेजी की चन्दन भक्ति का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। आपने योनिपूजक त्रिवर्णाचार का एक श्लोक देते हुये लिखा है कि—

*वस्त्रयुग्मं यज्ञसूत्रं कुंडलं मुकुटं तथा।*
*मुद्रिका कंकणं चेति कुर्याच्चन्दनभूषणम् ॥*

पाडेजी और भाषान्तरकार पं० लालाराम जी ने इसका विचित्र एवं ऊटपटाँग अर्थ करते हुये लिखा है कि "पूजा करते समय धोती दुपट्टा यह दो वस्त्र और यज्ञोपवीत धारण करना

चाहिये। कुंडल मुकुट मुद्रिका और कंकण के चन्दन के तिलक
लगाकर चिह्न करना चाहिये। अर्थात् असली आभूषण न मिले
तो चन्दन के लगाकर कल्पित करना चाहिये। किन्तु वास्तव
में ऐसा अर्थ नहीं है। त्रिवर्णाचार के पृष्ठ ९९ पर इसी नं०
८६ के श्लोक का तो और ही अनूठा अर्थ किया है कि "पहिनने
ओढ़ने के दोनों वस्त्र, यज्ञोपवीत, कुंडल, मुकुट, मुद्रिका, और
हाथों के चूड़े, इनको चन्दन से सुशोभित करे अर्थात् इन सब
चीज़ों पर चन्दन लेप करे।"

पाठकगण! तनिक इस मूढ़ता पर भी विचार करें, कि
कहां तो जिनचरण-स्पर्शित तथा ब्रह्महत्या तक को धो देने
वाला पवित्रचन्दन और कहां उससे पहिनने की धोती तक का
रंगा जाना! आश्चर्य! क्या इस चंदन भक्ति का भी कोई
ठिकाना है? अब मैं चर्चासागर भक्तों से पूछता हूँ कि—

१—तिलक लगाकर पूजन करना चाहिये या पूजन करके
तिलक लगाना चाहिये (चर्चा० और त्रिवर्णाचार की विरोधी
आज्ञाओं का विचार करके लिखें)।

२—तिलक परमेष्ठी की कल्पना के लिये ही है या आभू-
षणों की कल्पना करने के लिये?

३—'वस्त्रयुग्मं' आदि श्लोक का अर्थ चन्दन के आभू-
षण बनाना है कि आभूषणों पर चन्दन लगाना।

याद रहे कि त्रिवर्णाचार और चर्चासागर के परस्पर
विरोध की ओर भी ध्यान होना चाहिये। साथ में यह भी बत-
लाना चाहिये कि किस दिगम्बराचार्य का ऐसा मत है?

## पाखण्ड और मूढ़ता।

पाडेजी ने पृ० १६६ पर गुरुमुद्रा की विचित्र कल्पना की
है। इसमें पाँचों अंगुलियों को औंधा सीधा करना पड़ता है।

उन पर जल और पुष्प रखे जाते हैं तथा गुरुमुद्रा को मस्तक पर चढ़ाया जाता है। उसी पर वे पुष्प छोड़ दिए जाते हैं! फिर भगवान को आचमन कराया जाता है (पृ० १६७)। इसके बाद एक आरती उतारी जाती है, जिसमें पांडेजी और पं० लालारामजी के मन्तव्यानुसार एक थाली में दही, अक्षत, खीलें, भस्म और पवित्र गोबर पिण्ड (!) तथा पुष्प दूर्वा आदि रखकर भगवान की आरती उतारना चाहिये !!!

क्या इस पाखण्ड, मूढ़ता और वाममार्ग का समर्थन किसी जैनाचार्य प्रणीत आगम ग्रंथ में पाया जा सकता है? अथवा यह पांडे तथा पण्डित जी जैसे गोबरपंथियों के विकृत मस्तिष्क का नया आविष्कार है? गोबर से आरती करने का अघोरपंथी विधान कहां तक युक्त है, यह आगे स्पष्ट रूपसे बताया जायगा।

## चंदन लेपन में परस्पर विरोध!

हम यह बात तो पहिले बतला चुके हैं कि पांडेजी को भगवान पर चंदन लपेटने और स्वयं चन्दनमय हो जाने का अत्यन्त आग्रह था। आप इधर उधर के संस्कृत मंत्र लिखते हुये फिर भी १६८ पृष्ठ पर लिखते हैं कि "फिर (शान्ति धारा आदि होने के बाद) प्रतिमा के चरणों पर गंध लेपन कर प्रतिमा को वस्त्र से पोंछ कर मंत्र सहित सिंहासन पर विराजमान कर देना चाहिये।" इसके बाद अर्हन्त भक्ति का पाठ पढ़ने, स्तोत्र बोलने आदि का विधान है। तदनन्तर अष्टद्रव्य से पूजा करने का विधान है।

अब यहां पर विचारना यह है कि जलधारा के बाद चंदन लेप किया जायगा और फिर वस्त्र से प्रतिमा जी पोंछ ली जावेंगी तो उस पर चंदन नहीं रहेगा। इसलिये मूर्ति चंदन

रहित हो जायगी और चंदन रहित मूर्ति की ही पूजा की जायगी, कारण कि चंदन पोंछने के बाद फिर चंदन लगाने का पांडेजी ने कोई भी विधान इस प्रकरण में नहीं किया है। तब तो पांडेभक्त घोर पाप में डूबने से नहीं बचेंगे। कारण कि पांडेजी ने पृ० २२९ पर लिखा है कि "कुमकुम चंदनादि विलेपन से रहित मूर्ति को देखने वाला ज्ञानहीन कहलाता है। तथा वह कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता!" अब बताइये कि पांडेजी ज्ञानहीन तथा अधर्मात्मा होंगे या उनके भक्त ?

## काली महाकाली की पूजा।

पांडेजी ने जैनत्व की ओट में कितना मिथ्या विधान किया है, यह चर्चासागर को बारीकी से पढ़ने से मालूम होसकेगा। मैं तो यहां पर विस्तारभय से मात्र कुछ का ही दिग्दर्शनकरा रहा हूं। पांडेजी ने क्षेत्रपाल पद्मावती तो दूर रहो, काली महाकाली और भैरव भवानी तक की पूजा करने का विधान चर्चासागर में स्पष्टरूप से किया है। देखिये पृ० १६९ पर लिखा है कि "अष्ट दलों के बाहर स्थित जयादि आठों देवियों का अनुक्रम से पूजन करना चाहिये"। फिर उन आठों देवियों के नाम और आह्वानन स्थापन आदि की विधि लिखी है। यथा "ओं ह्रीं जये विजये अजिते अपराजिते जम्भे मोहे स्तम्भे स्तंभिनि इति अष्ट देव्य स्वायुध वाहनसमेताः सचिह्नाः अत्र आगच्छत आगच्छत संवौषट्" इत्यादि। इसके बाद उन देवियों की अष्टद्रव्य से पूजा करने का विधान बताया है।

बस, जैनत्व की हद होगई! जहा पर आयुध-हथियार, वाहन सवारी तथा चिह्नसमेत जयादि मिथ्यादृष्टि देवताओं की पूजा का विधान किया गया हो वहां जैनत्व की फिर क्या पूछना?

सम्यग्दृष्टि श्रावक के द्वारा ऐसे मिथ्या देवों की पूजा, उनका जिन भगवान की तरह आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण तथा आरती आदि करना जिस ग्रन्थ में बताया हो ऐसे मिथ्यात्व प्रचारक चर्चासागर को जैन शास्त्र मानना घोर अज्ञान और मूर्खता नहीं तो और क्या है ? पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार और क्षुल्लक कहे जाने वाले ज्ञानसागर जी आदि गोबरपंथी मंडली जिस चर्चासागर को संग्रह ग्रन्थ कह कर और आचार्य प्रणीत ग्रन्थों की दुहाई देकर इसे आगम बतलाते हैं उन्हें इस ओर भी अपनी बुद्धि का उपयोग करना चाहिये। तथा वे बतलावें कि ऐसे कुदेवों की पूजा करने का, उन्हे नमस्कार और विनय करने का भी विधान किन दिगम्बराचार्यों ने किया है। और जब एक सम्यक्त्वी श्रावक ऐसे मिथ्यादृष्टि देवों की पूजा करेगा तो मिथ्यादृष्टि किसे कहेंगे ?

पांडेजी को जयादि देवताओं को पुजाकर ही संतोष नहीं हुआ है। किन्तु काली महाकाली, चण्डी मुन्डी, भैरव भवानी आदि सभी देवताओं की पूजा का स्पष्ट विधान किया गया है। इस पाखण्ड पूजा के लिये तो चर्चासागर के ५ पृ० भरे गये हैं। उनका सार यह है—

(१) जयादि देवताओं की अष्टद्रव्य से पूजा करना।

(२) रोहणी आदि १६ देवियों की आह्वानन, स्थापन सन्निधिकरण पूर्वक पूजा करना। यथा "ओंह्रीं रोहिणि प्रज्ञप्ति वज्रश्रृंखले वज्रांकुशे अप्रतिचक्रे पुरुषदत्ते कालि महाकालि गांधारि गौरि ज्वालामालिनि वैरोटि अच्युते अपराजिते मानसि महामानसि इति षोडशदेव्यः स्वायुधवाहन समेताः सचिन्हाः अत्रागच्छतागच्छत संवौषट्, आदि। इसके बाद ओंह्रीं रोहिण्यै स्वाहा, ओंह्रीं काल्यैस्वाहा। ॐह्रीं महाकाल्यै स्वाहा आदि पढ़ते हुये अर्घ देना चाहिये। इस अर्घ देने का मंत्र भी इस

प्रकार बताया है—"इदं अर्घ्यं पाद्यं चरु बलिं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यतां स्वाहा !

जैन धर्म के श्रद्धालुओ ! तनिक इस ओर भी आंख उठा कर देखो ! धर्म के नाम पर, आगम की ओट में और आचार्य संघ की छाप लगाकर विशुद्ध जैनधर्म में कैसा पाखण्ड प्रचार किया जा रहा है ? कैसा मिथ्यात्व फैलाया जा रहा है ? और कैसी कुदेव पूजा—चण्डी मुण्डी भैरों भवानी तथा काली महाकाली की पूजा—का विधान जैनधर्म में बतलाया जा रहा है ! जो महा हिंसाकारिणी है, लाखों प्राणियों का वध करने वाली है, रुण्ड मुण्ड और अस्त्र शस्त्र तलवार, बरछी, भाला कटार एवं खप्पर लिये रहती है, जिसे सभ्य समाज अब घृणाकी दृष्टि से देखती है, उसी आयुधवाहन समेत काली महाकाली की पूजा का विधान जैनियों में बतलाया जारहा है। सावधान !!!

जिनके संघ में इस मिथ्यात्व-प्रचारक चर्चासागर का प्रचार हुआ है, क्या उन आचार्य शान्तिसागर महाराज को यह बातें स्वीकार हैं ? क्या वे काली महाकाली की पूजा जैनियों द्वारा कराना अभीष्ट समझते हैं ? यदि नहीं तो आपके संघ में ऐसे ग्रन्थ का प्रचार क्यों किया जाता है ? तथा आप इस ग्रन्थ को अप्रमाण घोषित कर देने का साहस क्यों नहीं करते हैं ? इसके अतिरिक्त बड़े ज्ञान और चारित्र का बाना रखने वाले ज्ञानसागर जी ( क्षुल्लक ? ) इन बातों को किस मुँह से आगमसिद्ध कहना चाहते हैं ? तथा बड़ी २ पदवीधारी पं० मक्खनलाल जी और उनकी कम्पनी ऐसे मिथ्यात्व-पोषक ग्रन्थ को जैन ग्रन्थ कैसे सिद्ध करते हैं ? सो इन सबको खुलेरूप से सामने आना चाहिये। इस प्रकार से स्वार्थ, हठ, दुराग्रह या अपना शान में मिथ्यात्व का प्रचार करना घोर पापका कारण है।

( २ ) पाडे जी को काली महाकाली पुजाकर ही कहां

संतोष हुआ है ? आगे चलकर पृ० १७० पर तो आप लिखते हैं कि-तदनन्तर चक्रेश्वरी आदि २४ जिनशासन देवियों की भी पूजा करनी चाहिये। उनके नाम हैं चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, काली महाकाली, ज्वालामालिनी, गौरी, गांधारी, वैरोटि, बहुरूपिणी, चामुण्ड, कुष्माण्डिनी, पद्मावती आदि ! इनको भी वाहन और आयुध समेत बुलाकर पूजा करने का विधान किया गया है !

( ४ ) इसके अतिरिक्त यक्षेन्द्र, राक्षसेन्द्र, भूतेन्द्र, पिशाचेन्द्र, आदि ३२ इन्द्र और गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर महेश्वर, षणमुख, किन्नर, किंपुरुष आदि तथा धरणेन्द्र मातङ्ग आदि २४ यक्षेन्द्रगणों को "आयुधवाहन युवति समेताः" अर्थात् शस्त्र, सवारी और स्त्री सहित बुलाकर पूजने का विधान है !

यह सब देखते हुए कौन कहेगा कि चर्चासागर जैनग्रंथ है ? जिसमें इतना मिथ्यात्व है, ऐसे २ मिथ्यात्वी देवों की पूजा है, भैरों भवानी, काली महाकाली और यक्ष यक्षेन्द्रों तथा भूत पिशाचों की मान्यता है और जिसमें मय अस्त्र शस्त्र और सवारी तथा युवतियों सहित पूजा का विधान है उसे कौन मूर्ख या विद्वान जैनशास्त्र कहने का साहस करेगा ?

समझ में नहीं आता कि क्या समझकर, कैसी मान्यता से और किसका ख्याल करके इन विधानों को आचार्यसंघ और विद्वान कहे जाने वाले पं० मक्खनलाल जी आदि प्रमाण मानते होंगे ? जबकि यह तमाम देवता मिथ्यादृष्टि होते हैं तब इनकी एक श्रावक के द्वारा पूजा कराई जाना कहां की बुद्धिमानी है ? वीतराग धर्ममें इन सरागी कुदेवों का क्या महत्व हो सकता है ? इन्हीं सब पाखण्डों के उत्तर स्वरूप आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाश के छठे अधिकारमें कुदेवादि पूजनका निषेध करते हुए लिखा है कि—

"बहुरि देवीदिहाड़ी आदि है ते केई तौ व्यंतरी वा ज्योतिषी हैं तिनका अन्यथारूप मानि पूजनादि करै हैं। केई कल्पित हैं, सो तिनकी कल्पना करि पूजनादि करै हैं। ऐसे व्यंतरादिक के पूजने का निषेध किया। जिन मत विषै संयम धारैं पूज्यपनो होय है। सो देवन के संयम होता ही नाहीं। बहुरि इनको सम्यक्ती मानि पूजिये है, तो भवनत्रिक में सम्यक्त्व की भी मुख्यता नहीं। जो सम्यक्त्व करि ही पूजियें तो सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव तिनकौं ही क्यों न पूजिये? जिनभक्ति तो सौधर्म इन्द्र कै भी है, वा सम्यग्दृष्टि भी है। वाकौ छोरि इनकौं काहे कौं पूजिये ? बहुरि देखो अज्ञानता आयुधादिक लिये रौद्र स्वरूप है जिनका, तिनकी गाय गाय भक्ति करैं हैं। सो जिनमत विषैं भी रौद्रस्वरूप पूज्य भया, तौ यह भी अन्य मतके समान भया। तीव्रमिथ्यात्व भावकरि जिनमत विषैं ऐसी विपरीत प्रवृत्ति का मानना होय है। ऐसैं क्षेत्रपालादिक कौं भी पूजना अयोग्य है।" इत्यादि।

अन्धभक्तों! तनिक आंखें उघाड़कर निर्मल एवं निर्दोष जिनवाणी की ओर निहारो। सत्यासत्य को पहिचानने के लिये अपने हृदय के मिथ्या कपाट खोलो और चर्चासागर जैसे गोबरपंथी एवं वाममार्गी ग्रन्थों की असलियत को पहचानो। यदि अस्त्र शस्त्र वाहन तथा युवतियों से युक्त देवी देवताओं का आह्वानन स्थापन सन्निधिकरण और पूजा आरती होने लगे तो स्वामी समन्तभद्र जैसे महर्षियों के उन वाक्यों का क्या मूल्य रहेगा जिनमें उन्हों ने एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी को ही देव मानने का विधान किया है और उस के अतिरिक्त सभी देवी देवताओं का निषेध किया है ? यथा—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां ।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि जीव भय आशा स्नेह या लोभ से भी कुदेव कुशास्त्र और कुलिंगियों को प्रणाम और विनय भी नहीं करें । तव वतलाइये कि चण्डीमुण्डी, भैरों भवानी, काली महाकाली या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि कुदेवों की पूजा कैसे की जासकती है—उन्हें प्रणाम कैसे किया जा सकता है ? और, उनकी विनय भी कैसे की जासकती है ?

क्या आप इनको सच्चा देव मानते हैं ? यह तो हो नहीं सकता । कारणकि सच्चे देव का लक्षण स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि—

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेष मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

अर्थात्—जिसके क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और चिन्ता तथा रति, विषाद, खेद, स्वेद, निद्रा और आश्चर्य नहीं है वही सच्चा देव कहा जा सक्ता है । मगर उक्त देवी देवताओंमें यह सभी दोष पाये जाते हैं, तव वे सच्चे देव कैसे कहाये जा सकते हैं ? इसके अतिरिक्त उनमें कुदेव के सभी लक्षण मिलते हैं । यथा—

जे राग द्वेष मल कारि मलीन,

वनिता गदादिजुत चिह्न चीह्न ।

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव,

शठ करत, न तिन भव भ्रमण छेव ॥

—छहढाला ।

किन्तु जब हम उक्त देवी देवताओंको देखतेहैं तब उनमें यह सभी बातें पाई जातीहैं। पांडेजीने उन्हें स्वयमेव यही विशेषण देकर आह्वानन कियाहै। यथा—"आयुधवाहन युवति सहितः अत्र आगच्छत २"-इत्यादि। इससे सिद्ध है कि उक्त देवी देवताओं का मानना पूजना मिथ्यात्व है और उनकी पूजादिका विधान बताने वाला ग्रंथ कुशास्त्र है।

जैनाचार्यों ने सर्वत्र ठोक ठोक कर कहा है कि एक वीतराग भगवान के सिवाय कोई दूसरा देव पूज्य नहीं हो सकता। उसके अतिरिक्त तो सभी कुदेव हैं। फिर् भी जो लोग काली महाकाली और भैरव पद्मावती आदि की पूजा करते हैं, उनके लिये भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने षट्पाहुड़ के मोक्षप्राभृत में स्पष्ट रूप से मिथ्यादृष्टी कहा है। यथा—

कुच्छिय देवं धम्मं कुच्छियलिंगंच वन्दये जो दु।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥ ९२ ॥

अर्थात्—जो लज्जा भय या बड़ाई से कुदेव, कुधर्म और कुलिंग को वन्दते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। तब फिर विचारना चाहिये कि चर्चासागर भक्तों को क्या कहा जाय?

पांडेजी ने पृष्ठ १७२ पर अग्निदेव, पवनदेव तथा वरुणदेव आदि को भी अर्घचढ़ाने का विधान किया है। परन्तु श्री अमितगति आचार्य महाराज ठीक इसके विरुद्ध कहते हैं कि—

आर्यास्कंदानलादित्यसमीरणपुरःसराः ।
निगद्यन्ते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः ॥ ४–६२॥

—अमितगति श्रावकाचार।

अर्थात्—समस्त दोषों के समूह देवी, स्कंद, अग्नि, सूर्य और वायु आदि को मूढ़लोग देव कैसे कहते हैं? मगर दुःख का विषय है कि अपने को जैन मानने वाले कुछ मिथ्यान्ध लोग चर्चासागर जैसे कुशास्त्र को और उसमें कथित देवी देवताओं को पूज्य मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों के लिये अमितगति आचार्य कहते हैं कि—

पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुंचति ।
कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिबन्नपि महाविषं ॥ २–१५ ॥

—अमितगति श्रावकाचार।

अर्थात्—जैसे दूध को पीता हुआ भी सर्प विष को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जिन वचन को पढ़ता हुआ भी मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता। वास्तव में यह श्लोक उन पण्डितों पर बराबर लागू होता है जो बड़े पदों से युक्त होते हुये तथा जैन शास्त्रों के ज्ञाता-शास्त्री कहलाते हुये भी चर्चासागर जैसे कुशास्त्रों का अधम पक्ष नहीं छोड़ते हैं।

दिक्पालों की पूजा—पांडेजी ने पृ० १७२ पर दश दिक्पालों की पूजा का विधान करते हुये दशों दिशाओंमें अर्घ चढ़ाने की आज्ञा दी है। वे इन कुदेवों की पूजा में इतने मस्त होगये कि आगे पीछे का कुछ भान ही नहीं रहा। कारण कि आप स्वयं पृ० १२७ पर विदिशाओं में पूजा करने से पुत्र-पौत्र और धन संतति का विनाश होना बतला आये हैं और यहां दिकपालों की पूजा का दशों दिशाओं में विधान किया है। इसका मतलब

तो यही हुआ कि वीतराग भगवान तो अपनी पूजा विदिशा में की जाने से नाराज़ होजाते होंगे, रुष्ट होजाते होंगे और सन्तति नाश का शाप दे डालते होंगे, मगर गोवरपंथियों के आराध्य देव दिक्पाल आदि कभी भी नाराज़ नहीं होते। मानो पांडे जी की दृष्टि में दिक्पालादि का पद जिन भगवानसे भी उच्च है! जो कुछ भी हो, मगर इतना तो अवश्य है कि पांडे जी ने पक्षान्ध होकर पूर्वापर विरोध का कोई ख्याल नहीं रखा है।

**जिन पूजा की गौणता**—इसके अतिरिक्त पांडेजी ने चन्डी मुन्डी, भैरों भवानी, काली महाकाली, राक्षस भूत और पिशाच आदि की पूजा में कई पृष्ठ रोके हैं किंतु वीतराग जिनेन्द्र की पूजा का ऐसा कोई खास विधान नहीं किया है। प्रत्युत मिथ्या पूजाओं की अपेक्षा जिन पूजा को गौण और उपेक्षणीय बतलाया है। देखिये पृ० १७६ पर लिखा है कि "अपने समय के अनुसार देव शास्त्र गुरु की पूजन करना चाहिये, फिर पहिले कहे हुये क्षेत्रपाल पद्मावती आदि देवताओं को क्रम से अर्घादि देना चाहिये।"

इससे सिद्ध है कि फुरसत हो तो जिन भगवान की पूजा करे, मगर पांडेजी के आराध्य देवी देवताओं को अवश्य ही विधि पूर्वक अर्घ आदि देना चाहिये। जिस प्रकार 'समय के अनुसार' पद जिनपूजा के साथ लगाया है वैसा उपेक्षासूचक पद अन्य देवताओं की पूजा में नहीं लगाया है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार आगे चलकर पांडेजी ने जिन पूजा में गोवर का विधान किया है उस प्रकार इन कुदेवों की पूजा में नहीं बतलाया है। इत्यादि बातों से मालूम होता है कि पांडे चम्पालाल जैन नहीं, किंतु जैन के वेष में कोई जिनमार्ग का विद्वेषी धूर्त व्यक्ति था। उसकी तमाम चालबाज़ियां आगे और प्रगट हो जावेंगी।

# गोबर से पूजा और आरती का विधान !!!

चर्चा १५२ पृष्ठ १७८ में—तो पांडेजी ने अपने वाम मार्ग का पूरा प्रदर्शन कर दिया है। आपने एक शंका उठाकर उसका समाधान किया है, जो कि इस प्रकार है—

पूजा में मंगलद्रव्य व मंगलार्घ्य कहा है सो मंगलार्घ्य किसे कहते हैं ? समाधान–"दूब स्वास्तिक दर्भ कमलगट्टा नदी किनारेकी शुद्ध (!) मिट्टी भूमिमें नहीं पड़ा हुआ गोमय (गोबर) ....ये सब मंगल द्रव्यहैं!" सो अभिषेक वा पूजाके समय भगवान के आगे किसी पात्र में रख कर अर्घ्य के समान उतार कर चरणों के आगे चढ़ाना चाहिये। इसी को मंगलार्घ्यावतरण कहते हैं।"

इस चर्चा में पांडे चंपालालने गोवर को भी पूजा और अभिषेक के समय अर्घ्य उतारने में मंगल द्रव्य वतलाया है। और प्रमाण दिया है किसी धर्मदेव कृत शांतिचक्रविधानका ! इसी प्रकार पृ० १८० पर अष्टकर्म विनाशार्थ भूमिमें नहीं पड़े हुये गीले गोबर के पिण्ड से भगवान की आरती उतारने का विधान बतलाया है ! इन्हीं वातों को सिद्ध करने के लिये पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट में पूरा प्रयत्न किया है। और गोवर को शुद्ध वतलाकर जिन भगवान की आरती उसके द्वारा की जा सकती है यह सिद्ध किया है ! यह है जैनसिद्धान्तज्ञता और इसे कहते हैं वादीभकेशरीपन !

## गोबराष्टक

पंडितजी ने गोवर शुद्धि के लिये इधर उधर के संस्कृत श्लोक बटोरकर प्रमाण कोटि में रख दिये हैं और २५ पृष्ठ काले कर डाले हैं। प्रारम्भ में तो श्रीयुत रतनलाल जी

झांझरीको कोसा गया है, जिन्होंने चर्चासागर की भ्रष्ट चर्चाओं के विरुद्ध सब से पहिले आन्दोलन उठाया था। बाद में **'गोबर शुद्ध है या अशुद्ध'** इस पर विचार करने बैठे हैं। पंडित जी सा० लिखते हैं कि गोबर से मकानों में लीपा जाता है। बच्चा टट्टी पेशाव कर दे तो गोबर से शुद्ध करते हैं। गोबर से रसोई बनाने का चूल्हा भी लीपा जाता है! गोबरसे सूतकमें शुद्धि होती है। गोबर के कंडोंपर रसोई होती है। गोबर से चौक पूरा जाता है। गोबर छूकर स्नान नहीं किया जाता है। दक्षिण में सभी घर गोबर से लीपे जाते हैं। इस प्रकार अपने ट्रैक्ट में पंडितजी ने 'गोबराष्टक' गाया है। इसी की पुष्टिके लिये स्वामी अकलंकदेव और चामुण्डराय महाराज आदि के प्रमाण भी दिये हैं!

मगर मैं पंडितजी से पूछता हूं कि भगवान अकलंकदेव या चामुण्डराय अथवा और भी किसी दिगम्बराचार्य ने गोबरको पूजा अभिषेक के समय काममे लेना या गोबर से अर्घ्य उतारना कहां लिखा है? आप गोबर की व्यवहार शुद्धि बतलाकर और २-४ संस्कृत श्लोक देकर क्या भोली जनता को धोखे में डालना चाहते हैं? पंडितजी महाराज! यह अठारहवीं सदी नहीं है; अब तो सन् १९३२ चल रहा है! जनता में परीक्षा बुद्धि आगई है। कोरे बनावटी संस्कृत श्लोकों के झांसे में डालना अब कठिन काम है!

## गोबरसे आरती का विधान—

आगे चलकर पंडित मक्खनलालजी झांझरीजी के एक वाक्य की काट छांट करते हुए पृ० ६७ पर लिखते हैं कि—"चर्चा सागरमें गोबर पूजा का विधान कहीं भी नहीं है (!) केवल गोमय सरसों आदि से भगवान की आरती उतारने का विधान

बनाया है"! । पाठकगण पंडितजी की इन सत्यवादितापर तनिक ध्यान देवें । चर्चासा० के पृ० १५८ पर पूजा का मंगल द्रव्य पूछा गया है, और उसी का उत्तर भी पांडेजो ने "पूजाके समय पात्र में रखकर चरणों के आगे चढ़ाना चाहिये" स्पष्ट लिखा है । फिर भी पंडित जी इसे उड़ा देना चाहते हैं । कारण यह है कि आपको किसी भी अन्यभट्टारकया पांडे का भी प्रमाण गोबर पूजा के सम्बन्धमें नहीं मिल रहाहै । इसलिये आपने गोबरसे भगवान की आरती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । आप लिखते हैं कि-

"गोवर से आरती भगवान की उतारी जाती है, इसे सुनकर हमारे अनेक धर्मात्मावन्धु भी क्षुब्ध हो उठते हैं। नया विषय होने से हमारे भाइयों को क्षोभ नहीं होना चाहिये, किन्तु जहां आगम का विघात होता हो वहां चोभ करना चाहिये ।" इत्यादि ! कैसा चिकना चुपड़ा उपदेश है ? मानों गोवर से आरती करने में आगम की रक्षा हो जायगी । जैनियों के पवित्र एवं साफ़ मंदिरों की वेदियों पर जिस समय पं० मक्खनलाल जी और उनके आगम ग्रन्थ चर्चासागर के उपदेशानुसार गीले गोबर के ढेर लगे होंगे, और उसपर मक्खियां भिनभिनाती होंगी उस समय का क्या पूछना ? तब तो मन्दिर में प्रवेश करते ही पवित्र (!) परिमल से मन प्रसन्न होजायगा ! थोड़ा २ गोवर शरीरशुद्धि के लिये स्नान में भी लेने का विधान पंडितजी को कर डालना चाहिये ! अस्तु—

## आचार्यों के नामसे भयंकर धोखा—

"गोवर से आरती के प्रमाण में आचार्य वाक्य !" इस प्रकार का मोटा हेडिंग देकर पंडित जी ने आचार्य (!) नेमिचन्द्रकृत प्रतिष्ठापाठ, आचार्यवर्य (!) श्री भट्टाकलंकदेव कृत प्रतिष्ठापाठ तथा आचार्य (!) इन्द्रनन्दिकृत प्रतिष्ठापाठ और इन्द्र-

नन्दि संहिता के प्रमाण दिये हैं। इन भट्टारकों को आचार्य नाम देकर समाज को भयंकर धोखा दिया गया है। वास्तव में इन प्रतिष्ठापाठों के रचयिता आचार्य नहीं, किन्तु आधुनिक भट्टारक इन्हीं आचार्यों के नाम से हुये हैं। उन्होंने यह रचनायें की हैं। नीचे के लेख से यह बात पाठकों की समझ में भली भांति आ जायगी।

पंडितजी ने गोवर से आरती करने के विषय में कई प्रमाण अकलंक प्रतिष्ठापाठ के दिये हैं। मगर इसके रचयिता वह भगवान् अकलंकस्वामी नहीं हैं जिन्होंने राजवार्तिक और अष्टशती आदि की रचना की थी। उन आचार्यवर्य का समय तो ८ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। परन्तु इस अकलंक प्रतिष्ठापाठ के रचयिता अकलंक नाम के कोई भट्टारक सम्वत् १८६५ के करीव हुये हैं। यह बात जैन इतिहासज्ञ श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने ग्रन्थपरीक्षा तृतीय भाग में 'अकलंक प्रतिष्ठापाठ की जांच' शीर्षक लेख में कई अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध की है। अकलंक प्रतिष्ठापाठके अध्याय ५ में २७ वां श्लोक है कि—

*किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।*
*चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥*

यह सागारधर्मामृत के दूसरे अध्यायका २८ वां श्लोक है जो कि ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया गया है। सागारधर्मामृत का रचनाकाल वि० सं० १२९६ है। इससे सिद्ध होता है कि अकलंक प्रतिष्ठापाठ के रचयिता इसके वाद हुये हैं। इसी प्रकार और भी कई प्रमाण देकर मुख्तार साहव ने अन्त में लिखा है कि अ० प्र० में नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ का भी उल्लेख है। यथा—

अथ श्री नेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः ।
प्रतिष्ठायास्तदाद्युत्तरांगानां स्वयमंगिनाम् ॥ ३ ॥

इस नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ का रचनाकाल विक्रमकी १६ वीं शताब्दी बताया गया है । इससे सिद्ध होता है कि अकलंक प्रतिष्ठा पाठ इसके बाद बना है और इसके रचयिता ८ वीं शताब्दी के अकलंकस्वामी नहीं, किन्तु १७ वीं शताब्दी में एक भट्टारक हुए हैं । जिनको पं० मक्खनलालजी ने समाजको धोखे में डालने के लिए जान बूझ कर आचार्य लिख डाला है !

गोबर-आरती में नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ के भी कुछ प्रमाण पंडित जी ने दिये हैं । मगर यह प्रतिष्ठा पाठ 'गोमट्टसार' के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती का बनाया हुआ न होकर उन गृहस्थ नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है, जो देवेन्द्र के पुत्र तथा ब्रह्मसूरि के भानजे थे, और जिनके वंशादिक का विशेष परिचय जैन हितैषी के १२ वें भाग के अंक नं० ४-५ में देखना चाहिये । उसमें नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठका रचना काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी के लगभग बताया गया है ( ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग पृ० २५८ ) ।

किन्तु पं० जी ने अपने गोबरपन्थ की सिद्धि के लिये इस प्रतिष्ठापाठको भी आचार्य नेमिचन्द्रकृत लिख डाला है । इसी प्रकार इन्द्रनन्दि प्रतिष्ठापाठ और इन्द्रनंदि संहिता भी इन्द्रनंदि भट्टारक द्वारा बनाई गई है, जिन्हें पं० जी ने आचार्य लिखा है ।

पण्डित जी सा० को तथा अन्य विद्वानों को भी मुख्तार साहब द्वारा लिखे हुये ग्रन्थ परीक्षा के तीनों भाग एक बार अवश्य पढ़ जाना चाहिये । इससे इन प्रतिष्ठा पाठों और त्रिवर्णाचारों की पोल तथा भट्टारकों की करतूतें स्पष्ट मालूम हो जायेंगी ।

प्रतिष्ठापाठों की प्रमाणिकता—

इन प्रतिष्ठापाठों और ऐसे ही त्रिवर्णाचारों की रचना एक विकृत ज़माने में हुई थी। जिनमें जैनधर्म के विरुद्ध अनेक बातें भर दी गई हैं। ग्रन्थ परीक्षा के तीसरे भाग के पृ० ९ पर पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि—"इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त दक्षिण भारत में इस प्रकार के साहित्यकी—संहिता शास्त्रों, प्रतिष्ठापाठो और त्रिवर्णाचारों की—बहुत कुछ सृष्टि हुई है। एक संधि भ० जिनसंहिता, इन्द्रनंदि संहिता, नेमिचन्द्र संहिता, भद्रबाहु संहिता, आशाधर प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ और जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि बहुत से ग्रन्थ उसी वक्त के बने हुये हैं। इस प्रकार के सभी उपलब्ध ग्रन्थों की सृष्टि विक्रम की प्रायः दूसरी सहस्राब्दि में पाई जाती है। दशमी शताब्दी तक का बना हुआ वैसा एक भी ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। इससे यह जाना जाता है कि ये ग्रन्थ उस ज़माने की किसी ख़ास हलचल के परिणाम हैं। और इनके कितने ही नूतन विषयों का, जिन्हें खास तौर से लक्ष्य में रखकर ऐसे ग्रन्थों की सृष्टि की गई है, जैनियों के प्राचीन साहित्य के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है।" इत्यादि।

इस पर विद्वानों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। उन्हें मालूम हो जायगा कि गोवर से जिनेन्द्र भगवान की पूजा या आरती का विधान धूर्त भट्टारकों की कृपा का फल है और यह उन्हीं की बुद्धि का आविष्कार है। उन्हीं लोगों को पं० मक्खनलाल जी जैसे विद्वान आचार्य पद से परिचित करा रहे हैं ताकि जनता चक्कर में आजाय! पंडित जी सा० ने पांडे चम्पालाल जी को भी पंडित क्यों लिखा? उन्हें भी क्यों नहीं आचार्य चम्पालाल जी महाराज लिख दिया? इससे समाज पर और भी अधिक धाक या श्रद्धा जम जाती!

### पण्डित जी का आर्डीनेन्स—

पं० मक्खनलाल जी ने ट्रैक्ट की भूमिका में एक आगम प्रमाण का छलपूर्ण आर्डीनेन्स लगाया है ! पृ० ४ पर आपने लिखा है—"यदि आपके पास चर्चासागरके विरुद्ध आगम नहीं है तो आपके वचन का साधारण जनता पर भी कुछ असर नहीं हो सकता। शास्त्रोंके जानकार तो उसे सुनेंगे ही क्या ?"

भले ही पंडित जी जैसे शास्त्रों के जानकार नहीं सुनें, कारण कि उनके आगम में गोवर कूड़े को भी पुष्टि मिल सकती है, मगर उनके गुरु न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्र जी आदि तो चर्चासागर को आगमविरोधी घोषित कर रहे हैं ! दूसरे–मैं पूछता हूँ कि गोवर नहीं चढ़ाने के वावत भी आगमप्रमाण कहां से उपस्थित किया जाय ? कारण कि जो प्रवृत्ति जैनों में आचार्यों के समय थी ही नहीं उसका विधि निषेध आगम में कहाँ से आजायगा ? अन्यथा यदि कोई मूर्ख व्यक्ति पाडेजी की भाति लिख दे कि "पूजा–आरती में डामर और फ़िनैल चढ़ाना चाहिये; कारण कि उससे भी गोवरकी भांति व्यवहार शुद्धि होतीहै" तब पं० जी महाराज ! क्या आप इसके विरोध में आगम प्रमाण उपस्थित कर सकेंगे ? अगर नहीं तो फिर आप को वात वात में आगम-प्रमाण पूछने का दुराग्रह छोड़ देना चाहिये। गोवर पूजा या डामर अथवा फ़िनैल पूजा जैसी वातों के आगम प्रमाण नहीं होते हैं। यह वातें तो विद्वानों की युक्तियों से और ज्ञान चक्षुओं से निर्णय की जाती हैं !

### शास्त्राज्ञा का ढोंग—

पं० मक्खनलाल जी अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ६९ पर लिखते हैं कि "गोवर के साथ आरती हमने भी नहीं की है परन्तु इस शास्त्राज्ञा का हम निषेध भी नहीं कर सके हैं !"

इस प्रकार लिखकर आप इस पाप से स्वयं तो बचे रहने की घोषणा कर रहे हैं और जनता को गोबर से आरती करने का उपदेश दे रहे हैं ! इसे कहते हैं 'परोपदेशे पांडित्यं'। मैं तो पं० जी से कहूँगा कि आपने यदि अभी तक गोबर से आरती नहीं की है तो अब ज़रूर अपने आचार्यों (!) की आज्ञा का अमल करिये और नहा धोकर किसी दि० जैन मंदिर में पवित्र (!) गीला गोबर थाली में भर कर पहुँचिये। फिर देखिये कि कैसा मज़ा आता है !

'परन्तु उस शास्त्राज्ञा का हम निषेध नहीं कर सकते' यह वाक्य पं० मक्खनलाल जी की अंधश्रद्धा का जीता जागता नमूना है। इसके लिये तो स्व० पण्डित प्रवर टोडरमल जी ने लिखा है कि—

"बहुरि कोई आज्ञा अनुसारि जैनी हैं सो जैसे शास्त्र विषैं आज्ञा है तैसे मानें हैं, परन्तु आज्ञा की परीक्षा करें नाहीं। सो आज्ञा ही मानना धर्म होय तौ सर्व मत वारे अपने २ शास्त्र की आज्ञा मानि धर्मात्मा होईं। तातैं परीक्षा करि जिन बचनकौं सत्यपनों पहिचानि जिन आज्ञा माननी योग्य है।"

—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३०४

उक्त बचनों पर विचार करना चाहिये। स्वामी समन्तभद्र ने भी तो इष्टेष्टविरोधी ग्रन्थों को शास्त्र नहीं मानने बाबत स्पष्ट कथन कियाहै ? गोबरसे पूजा या आरती का विधान जब किसी प्राचीन आर्ष ग्रन्थ में नहीं मिलता और जब वह प्रत्यक्ष तथा युक्तियों से भी अनुचित मालूम होता है तब फिर भी उसे मात्र स्वार्थी भट्टारकों के निराधार कथन होने पर ही प्रमाण मानना विद्यावारिधि पंडित जी को कैसे शोभा देता है ? आचार्यों के नाम से कुछ स्वार्थियों ने गोबर कूड़ा भरकर जैन साहित्य को इतना बिगाड़ा है कि उसे बिना परीक्षा किये आगम मानना

भयंकर भूल है। पंडित शिरोमणि श्री० टोडरमल जी ने लिखा है कि—

"बहुरि केई पापी पुरुषां अपना कल्पित कथन किया है, अर तिनकौं जिन वचन ठहरावैं हैं। तिनकौं जैन मत का शास्त्र जानि प्रमाण न करना। तहा भी प्रमाणादिकतैं परीक्षा करि वा परस्पर शास्त्रनतैं विधि मिलाय या ऐसैं संभव है कि नाहीं, ऐसा विचार करि विरुद्ध अर्थको मिथ्या ही जानना।" "पापी आप ग्रन्थादि वनाय, तहां कर्ताका नाम जिनगणधर आचार्यनिका धरया, तिस नाम के भ्रमतैं झूठा श्रद्धान करै तौ मिथ्या दृष्टि होय।" इत्यादि। —मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३०७

अव पाठक ही विचार करलें कि गोवरश्रद्धानी पं० मक्खन लाल जी और चर्चासागर के भक्तों को क्या कहा जाय? पंडितजी ने तो ट्रैक्ट के पृ० ७० पर ऐसे लोगों को व्यवहार सम्यक्ती वतलाया है। यही तो है जैन सिद्धांतका गम्भीर ज्ञान! खैर, कुछ भी हो, मगर यह वात निर्विवाद सिद्ध है कि गोवर-मिट्टी को जिन पूजा या आरती के योग्य वतलाना मात्र दुराग्रह है। ऐसी प्रवृत्तियां जैन मन्दिरों में न तो होती हैं और न हो सकेंगी। फिर भी समाज को प्रपंचियों के धोखे से सावधान रहना चाहिये!

## प्रतिष्ठावन्दी का झूठा भय—

पण्डित जी ने जनता को भयभीत करने के लिये एक दूसरी चाल पकड़ी है! आप पृष्ठ ७७ पर लिखते हैं कि—"चर्चा-सागर ग्रन्थ में गोवर की आरती का प्रमाण आने से ये सुधारक भाई चर्चासागर ग्रन्थ का ही वहिष्कार करने के लिये तैयार हो गये हैं; परन्तु उपर्युक्त कथनसे जव समस्त प्रतिष्ठापाठों में (!) वही कथन पाया जाता है तो क्या वे उन समस्त प्रतिष्ठापाठों

का भी बहिष्कार करेंगे ? तब फिर अर्हंत भगवान की प्रतिष्ठा कैसे की जायगी ?" इत्यादि ।

इस छल पूर्ण मिथ्यात्व कथन को देखकर मुझे पण्डित जी की शास्त्रीयतापर बहुत ही दुःख होता है। मैं पण्डित जी से पूछता हूं कि क्या आपने सभी प्रतिष्ठापाठ देखे हैं ? यदि नहीं तो "समस्त प्रतिष्ठापाठों में वही ( गोबर आरती का ) कथन पाया जाता है" यह कैसे लिख डाला ? यदि आपने सभी प्रतिष्ठापाठ देखे हैं तो बतलाइये कि श्रीमदाचार्य वसुबिन्दु अपरनाम जयसेन विरचित प्रतिष्ठापाठ में गोबरपूजा या आरती का विधान किस जगह पर है ? यह प्रतिष्ठापाठ प्रमाणीक तथा करीब १९०० वर्ष का पुराना और दिगम्बर आचार्य रचित है । 'ऐसे सर्वमान्य प्रतिष्ठापाठ के रहते हुये भी जनता को इस भ्रम में डालना कि यदि चर्चासागर का बहिष्कार होगा तो पूजा-प्रतिष्ठा और मन्दिर निर्माण सभी बन्द हो जायंगे एक भयंकर धोखा देना है ! पण्डित जी ने अपने ट्रैक्ट में ऐसी ही छलपूर्ण भाषा से काम लिया है । इसलिये समाज धोखे में नहीं आवे ।

**गोमूत्र से प्रतिमा जी का अभिषेक**—पं० मक्खनलाल जी जिस नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ को सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यकृत मान रहे हैं और उसकी अघोर पंथी बातों तक को मानना और मनवाना चाहते हैं उसमें तो गोमूत्र से भगवान का अभिषेक करना तक लिखा है !!! यथा—

ॐ समुद्रनद्युभयतटगिरिवल्मीकपद्मसरोमृद्वृषभकरिशूकरशृङ्गदंष्ट्रोपस्कीर्णमृत्तिकाभूम्यपतितपवित्रगोमयमूत्रघृतदधिक्षीरइक्षुरसमिश्रितसमस्ततीर्थवारिपरिपूरितेन मणिमय मंगलकलशेन भगवदर्हत्प्रतिकृतिं स्नापयामि । दिव्यमृतकादिपंचगव्य कलशाभिषेकः । (पृष्ठ ४६४ नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ छपा हुआ)

अर्थ—वैल, हाथी और शूकर के सींग और दाढ़ों से उखाड़ी गई, समुद्र नदी के दोनों तट, पर्वत, वामी, कमलों से युक्त सरोवर की मिट्टी, भूमि में नहीं पड़ा हुआ गोवर और गोमूत्र, घी, दही, दूध, इक्षुरस मिश्रित समस्त तीर्थों के जलसे परिपूरित मणिमई कलशों से भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक करते हैं।

और दूसरे इनके प्रमाणिक ग्रन्थ अकलङ्क प्रतिष्ठापाठ हस्तलिखित में १६ वां परिच्छेद भगवान के अभिषेक में :—

कंदमालतिका नंद्यानर्तपुष्पातिचन्दनं ।
रूपहेमतेलव्रीहियमं संघात गोमयं ॥३९॥

वायुवीये स्थिते कोणे कुंभे प्रक्षेप्य मुत्तमं ।
दिव्यं मृत पंचगव्यं च द्रव्यं तदैव मुच्यतें ॥४०॥

सिद्धाय गोमयं वाल्मीक भूधरात वृषपौत्रिभ ।
शृंगायरि कर्म पृथ्वीतलादिपी ॥४१॥

आरीतं भृभ्भूमाधासि धृति गोमूत्रगोमयं ।
गव्यमासपयः सर्व दधिन्वेक्षु रसस्तथा ॥४२॥

इस प्रकार से अकलङ्क प्रतिष्ठा पाठ में भी गोवरसे पूजा और गोमूत्र से भगवान का अभिषेक करना वतलाकर जैनधर्म पर भयङ्कर कलङ्क लगाया है ! क्या कोई भी विवेकी पुरुष कह सकता है कि यह नेमिचंद्र प्रतिष्ठापाठ और अकलङ्क प्रतिष्ठापाठ श्री दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती और भगवान अकलङ्क देव के वनाये होंगे। क्या वे महर्षि ऐसा अघोरपंथी कथन कर सकते थे? कभी नहीं !

यह बड़े ही दुःख का विषय है कि जिनके हाथ में समाज के कोमलहृदयी अनेक बालकों का भविष्य-निर्माण दिया गया है वे ही पं० मक्खनलाल जी जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति को गोमूत्र से अभिषेक करना और गाय के गोबर से आरती उतारना प्रमाण मानते हैं! अब कहिये कि समाज ऐसे २ महापुरुषों (!) को अपना हितैषी समझ कर क्या करे? क्या कोई यह बतला सकता है कि देवों ने या इन्द्रों ने कभी भगवान का गोमूत्र से अभिषेक किया था या गोबर से आरती की थी? यदि आज किसी राजा महाराजा या चर्चासागर भक्तों का गोमूत्र से अभिषेक किया जाय और गोबर से आरती की जाय तो क्या इसे वे स्वीकार करेंगे?

ऐ तेरह पंथ और बीस पंथ के नाम से भड़कने वालो! तनिक आंखे खोलो! क्या कोई भी पंथ गोबर से पूजा-आरती और गोमूत्र से भगवान का अभिषेक करना स्वीकार कर सकता है? यह मान्यता न तो तेरह पंथ की है और न बीस पंथ की, किन्तु यह तो अघोर पंथियों की मान्यता है। इसके समर्थन में पं० मक्खनलाल जी ने अपने शास्त्रीय प्रमाण (!) नामक ट्रैक्ट के २५ पृष्ठ काले किये हैं! खेद!!!

पण्डितजी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ५६ पर लिखा है कि "आज इस निमित्त से तेरह-बीस पंथ में फूट का बीज बोना है। और शास्त्रों को अप्रमाण ठहराने की पूरी चेष्टा करना है, इसलिये चर्चासागर को लेकर यह आन्दोलन उठाया जारहा है!"

पण्डितजी इन पंक्तियों को लिखकर कितने सीधे साधे और निष्पक्ष बन गये हैं। मगर उन्हें यह नहीं मालूम है कि ऐसे अघोरपंथी-वाममार्गी विधानोंको कौन तेरह या बीस पंथी जैन मानने को तैयार होंगे? क्या कोई बीस पंथी भाई कभी गोमूत्र से भगवान का अभिषेक करते हैं? यदि नहीं तो फिर तेरह-

बीस को लड़ाने में कारण आपको ही क्यों न कहा जाय ?

सच बात तो यह है कि जब से आपका आचार्यसंघ उत्तर हिन्दुस्तान में गया है तब से ही तेरह-बीस का प्रश्न खड़ा हुआ है। कारण कि उस वीतरागी (!) संघ को भी बीसपंथ का विशेष पक्ष है। तदनुसार चंदनचर्चा, पुष्प पूजा, बैठकर पूजा, रात्रिपूजा और पञ्चामृताभिषेक आदि का प्रचार उसके द्वारा किया जाता है। अब कहिये पण्डितजी महाराज ! कि तेरह-बीस को कौन लड़ाना चाहता है ? जिस संघके आश्रम से चर्चासागर और सूर्यप्रकाश जैसे एकपक्षी ग्रन्थों का प्रचार और प्रकाशन हुआ है उसे तो आप निर्दोष बतला रहे हैं और जो इन के मिथ्याचारों का सप्रमाण विरोध करता है उसे आप लड़ाने वाला कहते हैं ! धन्य है इस न्यायालंकारिता को !

पण्डितजी का शास्त्रीय छल—पण्डित जी ने अपने आराध्य भट्टारकों के भ्रष्ट ग्रन्थों के प्रमाण देकर जो गोबर को शुद्ध और पूजा के योग्य बतलाया है, उसका मुझे विशेष दुःख नहीं है, मगर दुःख तो इस बात का है कि आप राजवार्तिक के कर्ता भगवान अकलङ्कदेव और श्लोकवार्तिककार आचार्य विद्यानन्दिस्वामी के अभिप्राय को लीपापोती करके उन्हें भी उन स्वार्थान्ध भट्टारकों की कोटि में घसोटना चाहते हैं !

इन आचार्यों ने भले ही गोमय शुद्धि को लौकिक शुद्धि में गिनाया हो, किन्तु इसका मतलब यह नहीं लगाया जा-सकता कि गोबर से पूजा आरती करना चाहिये या वह गरम मसाले की जगह दालशाक या चटनी में डाला जाय ! प्रत्युत आचार्यों का तो यह अभिप्राय है कि गोमयादि पदार्थ शरीर को शुद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। वहां शुद्धि का विधान नहीं है, किन्तु अशुचि अनुप्रेक्षामें अत्यन्त अशुचित्व बतलाया गया है।

दूसरे आपने जो ट्रैक्ट के पृष्ठ ६३ पर श्लोकवार्तिक के दो श्लोक दिये हैं उनके अर्थ में भी गड़बड़ करके स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है, किन्तु वह भी ठीक नहीं है। पाठक उन श्लोकों को देखकर असली अर्थ समझ सकेंगे—

*तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।*
*सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखण्डकम् ॥२॥*
*भस्मादिवा स्वयं मुक्तं पिच्छालावूफलादिकम्।*
*प्रासुकं न भवेत् स्तेय प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥३॥*

पंडितजीने इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार किया है कि—

"नदी के झरने आदि का जल, सूखे गोबर का टुकड़ा (कंडा-उपला), भस्मादिक तथा अपने आप मयूर द्वारा छोड़ी हुई उसकी पिच्छले (डरीरें) और सूखी तूंबी आदि जो प्रासुक चीजें हैं वे यदि किसी के द्वारा बिना दी हुई हैं, उन्हें भी ग्रहण करने वाले जो श्रेष्ठ मुनि हों तो उन मुनिराज को प्रमाद योग न होने से चोरी का दोष नहीं लगता है।"

विद्यावारिधि जी का यह अर्थ कहां तक संगत है। यह विद्वान् लोग भली भाति जान गये होंगे। मै पण्डितजी महाराज से पूछता हूँ, कि पानी, भस्म, पिच्छलें और तूंबी तो ठीक है, मगर मुनि को सूखेगोबर के टुकड़े (कंडा-उपला) की क्या आवश्यक्ता है? क्या मुनिराज उन पर रोटी बनाते हैं? या बाटियाँ बनाते हैं? अथवा उन्हें सुलगाकर तापते हैं? कहिये तो सही कि उन्हें कण्डों की क्या ज़रूरत होती है? सच बात तो यह है कि आपने गोबर ग्राह्य और मुनि के द्वारा लेने योग्य-पवित्र सिद्ध करने के लिये श्लोकवार्तिक के उक्त श्लोकों के अर्थ में उलट पुलट कर दिया है जो कि आपकी शास्त्रीयता को शोभा नहीं देता!

वास्तव में बात यह है कि मासोपवासी महामुनि यदि नगर में न आवें तो उनका कार्य जंगल में ही चल सकता है। क्यों कि मुनियों को चार चीज़ों की अनिवार्य आवश्यका होती है—१. कमंडल २ पीछी ३ जल ४ भस्म (शौचशुद्धिके लिये)। इसलिये मुनिराज नदी के झरने आदि का जल, सूखी तूंबी, सूखे हुये गोबर के टुकड़े (कंडे) की भस्म और मयूरपिच्छ जंगल में से ही लेलिया करते हैं। यहां पर शुष्क गोमय खण्ड विशेषण है और भस्म विशेष्य है। अर्थात् सूखे गोबर के कण्डों की पड़ी हुई राख हाथ धोने को लेलिया करते हैं, न कि गोबर के टुकड़े! सूखे गोबर की राख का निर्देश इस लिये किया है कि यदि वे मिट्टी खोद कर लेंगे तो उसमें प्रमाद चर्या अथवा एकेन्द्रियादि प्राणियों के वध की आशंका रहती थी।

इसके अतिरिक्त कंडों की राख वनमें प्रायः मिलना सुलभ भी था। कारण कि इधर उधर से जाने आने वाले बटोही जंगल में कंडा बीन कर रसोई बनाते थे और उनकी राख पड़ी रह जाती थी। उसी को लेने की आज्ञा श्लोकवार्तिक में बतलाई है। वह भी साधारण मुनि को नहीं, किन्तु जो मासोपवासी हों। इसीलिये श्लोक में 'सन्मुनेः' ऐसा पद दिया है। इससे सिद्ध होता है कि विद्यानन्दि आचार्य का मतलब राख से था न कि आपके पवित्र (?) गोबर से! पण्डितजी ने जो गोबर के टुकड़े और भस्म अलग २ बतलाई है वह अर्थ संगत ही नहीं बैठता, कारण कि मुनिराज को कंडों की क्या ज़रूरत है? कारण कि गोबर से हाथ तो धोये नहीं जाते। किन्तु आपने जान बूझ कर आचार्य के सत्यार्थ को पलटने का प्रयत्न किया है, जो कि सर्वथा अनुचित है। इसके अतिरिक्त गोबर को ग्राह्य, पवित्र या पूज्य योग्य बतलाने वाला कोई भी आचार्य-

वाक्य न तो पण्डितजी बतला सके हैं और न पांडेजी ! जो कुछ भी प्रमाण है वह अमान्य भट्टारकों के ही हैं।

विरुद्ध प्रमाण—पण्डितजी जब गोवरशुद्धि के लिये कोई प्रमाण नहीं दे सके तब पूर्ण शुद्धाम्नायी स्व० पं० सदासुखदास जी के रत्नकरण्ड श्रा० की टीका में से अपना मतलब सिद्ध करना चाहा है। मगर यह तो बालू में से तेल निकालने जैसा अविचारित प्रयत्न समझना चाहिये। पण्डितजी ने पृ० ६३–६४ पर पं० सदासुखजीके कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। उन पर पाठक विचार करें—

"कालशौच, अग्निशौच, भस्मशौच, मृत्तिकाशौच, गोमय-शौच, जलशौच, पवनशौच, ज्ञानशौच, ये आठ शौच शरीर के पवित्र करने को समर्थ नहीं हैं।........बहुरि जगत में प्रगट देखिये है कि कर्ण के मलतैं नेत्रमलकूं, अर यातैं नासिका मलकूं, याते कफ़ लारादिक मुखके मलकूं, यातैं मूत्रकूं, यातैं भिष्टाकूं, अधिक अधिक अशुचि मानिये है।"

समझ में नहीं आता कि पण्डितजी इन वाक्यों को उद्धृत करके कैसे अपनी गोबरशुद्धि को सिद्ध करना चाहते हैं ? इससे तो उल्टा यह सिद्ध होता है कि गोमय शुद्धि आदि कार्यकारी नहीं है और नाक, कान, आंख तथा खकार थूक आदि से भी अधिक अपवित्रता गोबर में होती है। तब क्या आप और आपकी गोबरभक्त कंपनी गोबर की भांति भगवान की पूजा थूक खकार और नाक आदि मलों से भी करना ठीक मानेंगी ? कारण कि इनका दरजा आपके पूज्य मल से ठीक बताया है ! समझ में नहीं आता कि जैनियों में पंथके नाम पर यह अघोर पंथ क्यों प्रचलित किया जा रहा है ? क्या जैन समाज इन धूर्तताओं, म्लेच्छाचारों और वाममार्गीय मान्यताओं से अभी भी सावधान नहीं होगी ?

# मट्टी से पूजा आरती !

गोवरपंथी अन्धभक्त जिन प्रतिष्ठापाठों के आधार पर गोवर पूजा और गोमूत्र से अभिषेक सिद्ध कर रहे हैं उन्हीं प्रतिष्ठापाठों में मिट्टी से भी अभिषेक करने का विधान है। पाठकों ने इसके पूर्व में ही दिया गया नेमिचंद्र प्रतिष्ठा पाठ का प्रमाण देखा होगा। उसमें स्पष्ट लिखा है कि बैल हाथी शूकर के सींग और दाढ़ों से उखाड़ी गई समुद्र व नदी के तट, पर्वत, वामी और सरोवर की मिट्टी से जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक करना चाहिये।

जैन समाज को इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि प्रथम तो मिट्टी से अभिषेक करना और उसका विधान बतलाना ही मूर्खता है और फिर शूकर जैसे अस्पृश्य जानवर की दाढ़ों से खोदी गई मिट्टी कहां तक पवित्र होगी ? और फिर एक चमचा मिट्टी में ४ करोड़ से भी अधिक जीव वैज्ञानिकों ने देखे हैं। तब बतलाइये कि ऐसी मिट्टी को भगवान के अभिषेक युक्त बताना अघोरीपन नहीं तो और क्या है ?

ऐ जैन समाज ! सावधान होकर स्वार्थी भट्टारकों के प्रपंचों को देख ! और आचार्यों के नाम पर लिखे गये नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ और आशाधर प्रतिष्ठापाठ जैसे मिथ्या ग्रन्थोंको जैनग्रंथ न समझकर अपने यहां से निकाल दो ! इन ग्रन्थों में कितना गोवर मिट्टी और मूत्रादि भरा पड़ा है यह मैं यहां पर विस्तार भय से नहीं बतला सकता हूँ। बड़े दुःख का विषय है कि जैनियों के पंडित और विद्वान कहे जाने वाले पं० मक्खनलाल जी आदि तथा जैनाचार्य कहे जाने वाले आ० शान्तिसागर जी आदि एवं जैनियों के त्यागी कहे जाने वाले क्षुल्लक ज्ञानसागर जी आदि इन भयानक भ्रष्ट ग्रंथों

का समर्थन कर रहे हैं और जिनेन्द्र भगवान का गोवर गोमूत्र तथा मिट्टी कूड़े से अभिषेक व पूजा कराना ठीक समझते हैं।

## भगवान को नज़र न लगजाय !

चर्चा नं० १५१ पृष्ठ १८० पर पांडेजी ने जिनेन्द्र भगवान की आरती का मंत्र दिया है। और उसमें बतलाया है कि दूब, सरसों, ताजा गोवर आदिसे भगवानकी आरती करना चाहिये। उससे आठों कर्मों का नाश होता है। यथा—

"ओं ह्रीं क्रौं दूर्वांकुरसितसर्षपयुक्तै र्हरितगोमय पिण्डकै-र्भगवतोर्हतोवतरणं करोमि अष्टकर्माण्यस्माकं भस्मी करोतुभग-वान् स्वाहा !"

देखिये अष्टकर्म नाश करने का कितना सरल तरीका है ! गोवर करती हुई गाय का गरमागरम गोवर लेकर भगवान की आरती करदो कि कर्मों का नाश होना प्रारंभ होजायगा ! धन्य है इस बुद्धि को ! जिन भोजनभट्ट भट्टारकों के प्रतिष्ठापाठों में से यह ऋचा ली गई है, उन मतलबी एवं पवित्र धर्म द्रोही भट्टारकों ने जिनेन्द्र भगवान की ही पूजा आरती गोवर से करना बताई है, मगर कहीं पर अपनी या अपने आराध्यदेव काली महाकाली, भैरव पद्मावती या क्षेत्रपालादिक की आरती में गोवर या गोमूत्रादि का विधान नहीं किया है !

जैन बोधक के वर्ष ४२ अङ्क १-२ के पृष्ठ २४ में लिखा गया है कि—भगवान त्रैलोक्य सुन्दर हैं,उनकी ऐसी ही सुन्दर-ता हमेशा कायम रहे, इसी भावना से भक्त गोवर आदि से भगवान की आरती करता है ! लोक में भी नज़र उतारने के लिये तथा नज़र न लगजाय इसलिये खास २ द्रव्यों से उतारा किया जाता है ! उन उतारों के द्रव्यों में गोवर खास कर

रहना है। क्योंकि नज़र दोष को दूर करने की उस पदार्थ में विशेष शक्ति है। इत्यादि।

वाहरे विज्ञानियों! धन्य है आपकी बुद्धि को! इससे तो अब तमाम चर्चासागर भक्त पंडित और उनकी पण्डितानियों को चाहिये कि वे एक दूसरे की सुवह शाम रोज़ गोवरसे आरती उतारा करें। ऐसा करने से सदा अखण्डरूप क़ायम रहेगा! मगर भगवान पर तो दया करो! उनकी मूर्ति किसी के देखने से न तो आज तक विगड़ी है और न विगड़ सकती है!

## प्राणिवध का विधान!

चर्चा १६० पृ० १८६ से १९२ —में ऋषिमण्डल की आराधना विधि वताई गई है। उसमें पृ० १९१ में गौरी, चण्डिका, सरस्वती, जया, विजया, अम्बिका, कामांग, कामवाण, काली, कलिमिया और रुद्र आदि देवी देवताओं की आराधना करने का विधान है तथा ऐसे ही अनेक मिथ्या पाखण्ड वताये हैं। और इस यंत्र के साधक को सात आठ भव में ही मोक्ष मिलना वताया है!

अव पाठक विचार सकते हैं कि ऐसे कुदेवाराधन से ही मोक्ष वताने वाला शास्त्र जैनशास्त्र कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकरण में पृ० १९२ में लिखा है कि "इस यंत्र की सिद्धी से इच्छानुसार फल प्राप्त होतेहैं। तथा इस यंत्र के माहात्म्यसे सर्प, सर्पिणी, गोनसा, वृश्चिक (विच्छू), काकिनी, डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, चित्रक और हाथी, सींगवाले, दाढ़वाले प्राणी, पक्षी, मुद्गल, जृंभक, सिंह और शूकर आदि समस्त दुःख देने वाले तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं!!!

अहिंसाप्राण जैनियों! इस घोर हत्या की ओर दृष्टि करो। जिस मंत्रके वलसे सांप विच्छू, पशु, पक्षी और हाथी

शूकर आदि के नाश करने की विधी बताई गई है। उस मंत्रको, उनके उपाय बताने वाले को और उस ग्रन्थ को जैनशास्त्र मान कर पवित्र एवं अहिंसक जैनधर्म पर कलंक मत लगाओ! चर्चा-सागर भक्तों को तो अपने हटवाद के आगे कुछ भी नहीं सूझ रहा है। वे इस घोर हिंसा के विधान पर तनिक भी दृष्टिपात नहीं करते हैं। उनका आगम तो चर्चासागर है, देव भैरों भवानी और काली महाकाली आदि हैं तथा आराध्यगुरु पांडे चम्पालाल हैं! मगर मैं विवेकी समाज से सानुरोध निवेदन करूंगा कि वह सत्यको पहिचानें और जैनधर्म पर लगे हुये इस चर्चासागर रूपी काले कलंक को जल्दी धो डाले! अन्यथा इसका भविष्य में भयंकर परिणाम होगा!

## ओंकार और ह्रींकार।

चर्चा १६६ पृ० २०३ से २११—में ओंकार और ह्रींकार का वर्णन है। पांडेजी की अनेक चर्चायें यह स्पष्ट सिद्ध करती हैं कि उनपर वैष्णव धर्म की या जैनेतर धर्म की बहुत कुछ छाप पड़ी थी। इस ओंकार के वर्णन में भी आपने अन्यमता-वलम्बियों के द्वारा माने गये ओंकार की महिमा गाई है। पांडे जी उस काल्पनिक ओंकार की महिमा में इतने मुग्ध हुये हैं कि उन्हें परस्पर विरोध या जैन सिद्धान्त से विपरीतता तनिक भी नहीं जंची। आपने महादेव की डमरू से शब्द की उत्पत्ति होने का वर्णन करते हुये उसे भी स्वीकार कर लिया है, जबकि जैना-चार्यों ने इस सिद्धान्त का सयुक्तिक खण्डन किया है। पृ० २०९ पर ओंकार को वेद पुरुष और ह्रींकार को वेद माता (स्त्रीरूप) बताया है। इसके लिये पांडेजी ने कहीं का प्रमाण भी रख दिया है कि—

"ओंकारः पुरुषो ज्ञेयः गायत्री स्त्री च कथ्यते।"

हालांकि जैन शास्त्रों में भी अनेक जैनेतर सिद्धान्तों का वर्णन है, मगर उनके गुण दोष भी बतलाये गये हैं। किन्तु चर्चासागर में तो दोनों की खिचड़ी बनाई गई है। न तो उसमें किसी का खण्डन है और न अपने मत से कोई अनुकूलता प्रतिकूलता ही बताई गई है। इससे सिद्ध होता है कि पांडेजी को वह मत स्वीकार थे।

अन्धभक्ति का नमूना—पाडेजी ने निष्पक्षता का बाना लेकर जितनी अन्धभक्ति और पंथीय पक्ष बतलायाहै वह ठीक नहीं कहा जा सकता। जैसे आपने पृ० २०९ पर लिखा है कि "ह्रींकार में हकार तो पार्श्वनाथ सम्बन्धी है, नीचे का रकार धरणेन्द्र सम्बन्धी है, और ईकार स्वर तथा बिन्दु पद्मावती सम्बन्धी है ; इस प्रकार तीनों देवों का मायाबीज ह्रींकार में प्राप्त होता है"। इसमें प्रमाण दिया गया है पद्मावती कल्प के रचयिता किसी मल्लिषेण भट्टारक का! अब यहां पर विचार यह होता है कि क्या पार्श्वनाथ भगवान और उनके (!) पद्मावती तथा धरणेन्द्र के पहिले ह्रींकार नहीं था? यदि था तो भगवान पार्श्वनाथ और पांडे जी के इष्टदेव धरणेन्द्र पद्मावती ने उसपर अपना अधिकार कब और कैसे जमाया? कोई आर्षप्रमाण देना चाहिये था। यदि ह्रींकार पार्श्वनाथ भगवान के बाद बना है तो जैन शास्त्रानुसार मानी गई उसकी अनादिता नष्ट हो जायगी।

सच बात तो यह है कि अंधभक्ति और पंथपक्ष के आगे सत्य और विरोधाविरोध दिखाई नहीं देसकता। देखिये, अभी ही पांडेजी ने ह्रींकार के हकार को पार्श्वनाथ संबंधी और बाकी अंश धरणेन्द्र पद्मावती संबंधी बताया था, किन्तु थोड़े ही आगे चलकर पृ० २१० पर लिखा है कि "यह बीज सिद्ध परमेष्ठी का वाचक है!"। पांडेजी की इस विस्मरण शीलता पर खेद होता

है ! इसके आगे पृ० २११ पर ब्रह्मस्वरूप ओंकार और माया स्वरूप ह्रींकार बताया है ! जो कि पांडेजी के जैनत्व (!) को दर्पण की भांति बता रहा है ! इसी प्रकार आगे भी अन्य मत की पुष्टि की गई है।

## अन्यमत की पुष्टि !

चर्चा १६७ पृ० २११—में "दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पाप नाशनम्" इस श्लोक पर पांडेजी ने शङ्का उठाकर और उसका उल्टा सीधा समाधान करके अन्य मतावलम्बियों द्वारा मानी गई पुण्यतिथियों का समर्थन किया है। यथा आप लिखते हैं कि—

"इस श्लोक में पुनरुक्त दोष आता है तथा 'देव देवस्य दर्शनं' ऐसा मानने से छन्द भङ्ग होता है। इससे मालूम होता है कि इसका बनाने वाला कोई सामान्य पण्डित था, आदि। समाधान-इसका लिखने वाला छोटा व्यक्ति नहीं था। इसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—'दर्शनंदेव' इसका पदच्छेद इस तरह करना चाहिये-दर्श, नंदा, इव। दर्श शब्द का अर्थ कृष्णपक्ष की अमावस्या और नंदा शब्द से एकादशी है। जिस प्रकार एकादशी और अमावस्या में जो व्रत जप तप दानादि किये जाते है वे पुण्य के कारण हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र-देव का दर्शन भी पुण्य का कारण और बहुत पाप का नाश करने वाला है, आदि"।

यह कैसी बढ़िया खिचड़ी पकाई गई है ! कहां का सम्बन्ध कहां लगाया !

(१) सबसे पहिले तो ऐसा कहीं जैन सिद्धान्तमें भी देखने में नहीं आया कि अमावस्या व एकादशी पुण्य व पर्वतिथी हैं जिनमें दान देने से पुण्य-बंध विशेषरूपसे होता हो, लेकिन

जैनेतर सम्प्रदायों में ज़रूर इनको पुण्यतिथि माना है। उनको लेकर इसकी पुष्टि करना खिचड़ी पकाना नहीं तो क्या है?

(२) अमावस्या एकादशी के द्वारा इनकी सिद्धि भी तब हो सक्ती है जब उन्हें पुण्यतिथि सिद्ध कर देते। ऐसा न करते हुए पांडेजी ने अन्य मतानुकूल पुण्यतिथि मानकर इस मान्यता को जैनमत में प्रचलित करना चाहा है।

(३) भगवान के दर्शन करनेका इतनाही फल होता है, जितना इनमें दान देने से होता है। यह सब अर्थ-आम्नाय के बाहर और मिथ्यात्व की पुष्टि करने वाला है। पांडेजी को तो यही बात प्रिय है। इसीलिये यत्र तत्र मिथ्यात्व, शिथिलाचार, प्रमाद, विपरीत, असमंजस, आदि क्रियाओं की पुष्टि की है। जैनमत में अष्टमी चतुर्दशी ज़रूर पर्वतिथि मानी हैं और इनमें पुण्यकार्य-व्रत उपवास करने का विधान भी है। किन्तु उक्त अर्थ करने में जो आपने पंडिताई की है वह आम्नाय की तरफ ध्यान न देने से कुछ भी मूल्य नहीं रखती। वास्तव में 'दर्शनं-देवदेवस्य दर्शनं पाप नाशनं' इसमें जो दो दर्शन आये हैं उनमें से एक दर्शन तो नियम सूचक है, दूसरा उसके फलकी तरफ आकर्षित करता है। पुनरुक्त दोष कहना ग़लती है।

यथा-देवानां देवः देवदेवः अथवा देवेषु देवः देवदेवः-जिनेन्द्रः, तस्य एव दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं अर्थात् दर्शन देवों के देव जिनेन्द्र भगवान के ही करना चाहियें। इससे दूसरा मतलब यह निकलता है कि दूसरे के नहीं करना चाहियें। क्योंकि वे देव भी नहीं हो सक्ते तो देवाधिदेव कैसे हो सक्ते हैं? लेकिन पांडेजी ने मनगढ़ंत अर्थ कर जैनधर्म में भी उन तिथियोंकी मान्यता देनेकी घोर कुचेष्टा की है। इनको शायद अन्य मतका क्रियाकांड भी अधिक प्रिय था, जो जैनकी आड़ लेकर बीच बीचमें यत्रतत्र लिख मारा है। (जैनमित्र अङ्क ११ वर्ष ३३)

# सावद्य पूजा का समर्थन

चर्चा १६८ पृ० २१३ से २८५ तक ७२ पृष्ठ पांडेजी ने केवल चन्दन पूजा, भगवान के चरणों पर चन्दनका लेप करना, पुष्प और फल तथा पंचामृताभिषेक आदि का वर्णन किया है। इसी में शुद्धाम्नायियों को खूब कोसा है। अपने जले दिल के गुब्बार निकाले हैं और निष्पक्षता का बाना पहिन कर अपने पंथ का नाम तक न लिख कर उसकी खूब पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। उसकी अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा करना ही ठीक होगी।

सर्वप्रथम पांडे जी ने पृ० २१३ पर लिखा है कि "भव्य-जीवों को सबसे पहिले जलगंध अक्षत पुष्पादि से भगवान की पूजा करनी चाहिये, फिर (पूजा के बाद) भगवान के चरण-स्पर्शित पुष्पमालाको अपने कंठ में धारण करना चाहिये तथा चरणस्पर्शित शेष गंध का ललाट में तिलक लगाना चाहिये।"। इसमें प्रमाण दिया गया है चर्चासागर के जनक योनिपूजक त्रिवर्णाचार का! भला ऐसी बातों का आर्ष प्रमाण कहां से मिल सकता था?

यहां पर तो पूजा करने के बाद तिलक लगाने की आज्ञा की गई है, मगर आगे पृष्ठ २२१ पर लिखा है कि जप होम दान पूजा आदि तिलक के बिना कभी नहीं करना चाहियें। यह परस्पर विरोध कैसा? दूसरे तिलक लगाने के बाद तो पूजा करनी चाहिये और पूजा करने पर तिलक लगाया जा सकता है, यह अन्योन्याश्रय कैसा?

पांडेजी ने तिलक लगाने के प्रमाण में लिखा है कि "ललाटे तिलकं कार्यं ते नैव चन्दनेन च।" इसमें आप चकार से तिलक पर पूजा के अक्षत लगाने का भी विधान बताते हैं।

मैं पूछता हूं कि जैसे पाडे जी ने चकार से अक्षत का अर्थ निकाल लिया है उसी प्रकार चकार से थोड़ो आरती-पूजा का गोबर भी लगाने का अर्थ क्यों नहीं कर दिया ? क्योंकि वह तो आपकी सर्वप्रिय वस्तु थी।

पांडे जी ने पूजा की जिन-चरणस्पर्शित माला गले में धारण करने के लिये आदिपुराण का प्रमाण दिया है। किन्तु वह पूजा का प्रकरण ही नहीं है। वहां तो भरतचक्रवर्ती आदि राजाओं को नीति का उपदेश दिया गया है कि अन्य मतियों की शेषा, गंधोदक माला आदि नहीं लेना चाहिये।

दूसरा प्रमाण जिनयज्ञकल्प का दिया है। किन्तु वह भेषी भट्टारक कृत है। किसी आचार्य प्रणीत नहीं है। इसी प्रकार और भी प्रमाण हैं, जो कई तो उलट पुलट किये गये हैं और कितने ही अप्रमाणिक भट्टारकीय ग्रन्थों के हैं।

भाषान्तरकार पं० लालाराम जी शास्त्री ने भी पृ० २१५ पर एक नोट लगाया है कि "भगवान की पूजा से बचे हुये गंध से पूजक को भगवान की पूजा करने के लिये तिलक लगाना चाहिये"।

इसी वाक्य में अन्योन्याश्रय देखकर किसे हंसी नहीं आयेगी ? पण्डितजी ने इतना विचार नहीं किया कि यदि पूजा करने के लिये तिलक लगाया जाता है तो भगवान की पूजा से बची हुई गंध कहां से मिलेगी ? और यदि कोई पूजा से बची हुई गंध का तिलक करेगा तो उसके पूर्व पूजा करली गई होगी ? आश्चर्य है कि इस गड़बड़घुटाले की ओर पण्डित जी का या पांडेजी का कोई ध्यान ही नहीं गया।

पांडेजी ने पृ० २१६ पर कथाकोश का डेढ़ श्लोक देकर सिद्ध किया है कि पुष्प गले में धारण किये थे; मगर जिसे किंचित् भी संस्कृत का ज्ञान होगा वह तुरन्त कह देगा कि

इसमें चरणस्पर्शित पुष्प गले में धारण करने की बात है ही नहीं। वे श्लोक हैं—

तदागोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्री मज्जिनाग्रतः।
भो सर्वोत्कृष्ट ते पद्मं गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥
ऊक्त्वा जिनेन्द्रपादाब्जो परिक्षिप्त्वा सुपंकजम् ॥

इनमें गले में पुष्पधारण की गंध तक नहीं है। इसी प्रकार पांडेजी ने और भी उल्टे सीधे प्रमाण देकर ७२ पृष्ठ काले किये हैं।

## भगवान पर पुष्पों का मुकुट !!!

पुष्पप्रेमी पांडे चंपालाल ने पृ० २१७ पर तो यहां तक लिख डाला है कि भगवान की प्रतिमा पर पुष्पों का मुकुट चढ़ाया जाना चाहिये। इसके प्रमाण में आपने किसी श्वेताम्बर शास्त्र से या कहीं अन्यत्र से एक कथा इस प्रकार लिखी है कि कथाकोश में मुकुटसप्तमी की एक कथा है। वह इस प्रकार है कि—"एक सेठ के एक कन्या थी। उसने मुनिराजसे मुकुटसप्तमी का व्रत लिया था। उसकी विधि में मुनिराज जी ने बताया था कि श्रावणशुक्ला सप्तमी का उपवास करना चाहिये। उस दिन भगवान का अभिषेक कर पूजा करनी चाहिये, पुष्पों की माला पहिनाना चाहिये तथा पुष्पों का मुकुट श्री जिनबिम्ब के मस्तक पर धारण कर कहना चाहिये कि हे जिनवर! आप मुक्ति-स्त्री के वर हो, इसलिये आपके लिये यह मुकुट और माला पहिनाई जाती है! मुनि के उपदेशानुसार कन्या ने ऐसा ही किया।"

पांडेजी ने इसके प्रमाण में कथाकोश के ४ श्लोक भी दिये हैं। यथा—

वध्यते मुकुटं मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः ।
कण्ठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च धार्यते ॥ इत्यादि।

इसे पढ़कर प्रत्येक विवेकी कह देगा कि पांडेजीने प्रतिमा को मुकुट पहिनाकर दिगम्बरत्वकी हत्याकी है ! भला वीतराग मूर्तिपर मुकुट और मालायें कैसी ? कोई भी दिगम्बरजैन शास्त्र इन बातों का समर्थक नहीं है। और जो शास्त्र दिगम्बर मूर्ति के ऐसे शृंगार का समर्थन करताहै वह जैन शास्त्र नहीं होसकता !

खेदका विषय है कि चर्चासागर भक्त कुछ स्वार्थी पण्डित पांडे जी के प्रत्येक कथन को आचार्य वाक्य से भी बढ़ कर समझते हैं। भलेही वे मुकुट जैसे कथनों का अर्थविपर्यास करते हैं, मगर पांडे जी को तो आचार्य परमेष्ठी से कम नहीं मानते ! माहात्म्यमिदं महामोहस्य !

इसी कथा के सम्बन्ध में 'खण्डेलवाल जैन हितेच्छु' वर्ष १२ अंक २ ता० ११ दिसम्बर १९३१ में पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई ने एक लेख लिखा था। पाँडे जी को सर्वथा निर्दोष सिद्ध करने के लिये आपने वकालत की है कि "चर्चासागर में इस कथा का आधार कथाकोष लिखा गया है, इसलिये यह कथा पं० चम्पालाल जी की मनगढ़न्त नहीं है, किन्तु यह प्राचीन ग्रंथ के आश्रय है।"

मैं पण्डित जी से पूछता हूं कि यदि कोई पापात्मा प्राचीन ग्रंथ वेदों का आश्रय लेकर जैन शास्त्रों में पशुयज्ञ, मांसभक्षण और मदिरापान की समर्थक बातें लिख देवे तो क्या आप उसे भी निर्दोष कहेंगे ? यदि नहीं तो पांडे जी निर्दोष कैसे कहे जा सकते हैं ? दूसरे आपने भी तो यह नहीं बताया कि यह कथा कौनसे दिगम्बर जैनाचार्य प्रणीत कथाकोश में लिखी है ? फिर आप वकालात करने को कैसे बैठ गये ?

आगे चलकर आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि "इस कथा में जो विषय प्रतिपादन किया है वह तेरह और बीस दोनों सम्प्रदायों के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिये कथा दिग० संप्रदाय की नहीं हो सक्ती. किन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय की हो सकती है, क्योंकि दिगम्बर संप्रदाय में कहीं भी जिनप्रतिमा को पुष्पमाला तथा मुकुट नहीं पहराया जाता। तथा न किसी शास्त्रकी ही ऐसी आज्ञा है कि भगवान की प्रतिमा मुकुटमाला सहित पूज्य है।"। याद रहे कि उक्त वाक्य लिखने वाले चर्चासागर के परम भक्त पण्डित जी हैं! वे चर्चासागर की इस कथा को दिगम्बर धर्म के विरुद्ध मान रहे हैं, मगर चर्चासागर को जिनबाणी आगम ग्रंथसे फिर भी कम नहीं मानते! आश्चर्य तो यह है कि आपने इस कथा को विरुद्ध वतलाकर भी आगे अपने व्याकरण के प्रवल पाण्डित्य (!) से उसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथा—

*वध्यते मुकुटं मूर्ध्नि रचितं कुसुमोत्करैः ।*
*कंठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च धार्यते ॥*

इस श्लोक का यों अर्थ किया है कि—श्रीवृषभेशस्य (श्री जिनेन्द्र के) कुसुमोत्करैः (पुष्पसमूहों से) रचितं (निर्मित) मुकुटं (मुकुट-पूजक अपने मस्तक पर (!)) वध्यते (बाँधता है) च (और) कण्ठे (निजकण्ठ में) मालाधार्यते (माला धारण करता है!))।

पण्डित जी के इस अनर्थ को देख कर अत्यन्त घृणा होती है। कारण कि आप उस कथा को दिगम्बर-बाह्य मान कर भी मात्र पांडे जी की लाज रखने के लिये या अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिये ऐसा असंवद्ध एवं हास्यजनक अनर्थ कर

रहे हैं। श्री वृषभेशस्य कंठे की जगह आप पुजारी के कंठ में माला और पुजारी के ही मस्तक पर मुकुट पहिनाने का अर्थ कर रहे हैं! अच्छा होता यदि पुजारी के ही मस्तक पर अष्ट द्रव्य और गोवर चढ़ाने की भी वातें लिख देते! तथा पुजारी जी का ही गोमूत्र से अभिषेक करा देते। तव भगवान विचारे आपके इन पापों से वच जाते!

समझ में नहीं आता कि पण्डितजी का यह खेंचातानी का अर्थ कैसे संगत हो सकता है! कारण कि इसी श्लोक के आगे यह स्पष्ट लिखा है कि—

धारयेदर्हतः कण्ठे मालां पुण्याप्तिहेतवे।

अर्थात्—पुण्यप्राप्ति की कारणभूत माला भगवान अर्हन्त के कण्ठ में पहिनाना चाहिये। ऐसे स्पष्ट अर्थ को पलट कर व्यर्थ ही अपनी पण्डिताई वताना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। भगवान के मस्तक पर मुकुट पहिनाने वाले चंपालाल के इस कथन को कौन दिगम्बर जैन स्वीकार करेगा? जैन समाज को विचार लेना चाहिये कि जिस चर्चासागर में वैष्णव मत और श्वेताम्बरों के मत की वातें घुसेड़ी गई हैं उसे दिगम्बर ग्रन्थ मान लेने से कितना अनर्थ होगा।

## स्त्री गौ और ब्रह्महत्या का विनाश।

पांडेजी ने पृ० २१९ पर लिखा है कि "जिसने गौ वा ब्राह्मण की हत्या की हो अथवा चोरी की हो तथा स्त्री वालक कन्या का वधरूप अन्य पाप किया हो सो भी भगवान के चरणस्पर्शित गंध के सम्बन्ध से तिलक लगाने से उसी क्षण में उन पापों से मुक्त हो जाता है!!!

इस पापमोचन मुक्ति का भी कोई ठिकाना है! मात्र

जिन चरणस्पर्शित चन्दन से तिलक लगाने पर ही गौ हत्या, ब्राह्मण हत्या, स्त्री हत्या और बालक हत्या जैसे घोर पापों का उसी क्षण में विनाश बतलाना एक प्रकार से इन हत्याओं को उत्तेजन देना है। कारण कि तिलक लगाने मात्र से यदि हत्या का पाप मिट जाता है तो फिर कोई किसी के प्राणहरण में संकोच क्यों करेगा ? जैनियों के कर्मसिद्धान्त को भी पांडेजी ने चक्कर में डाल दिया है !

सच बात तो यह है कि पांडेजी प्रतिमा पर चन्दन लगाना सिद्ध करना चाहते हैं। इसलिये उस चंदन का इतना माहात्म्य बतला दिया कि उससे घोर हत्यायें भी उसी समय रफूचक्कर हो जाती हैं ! किन्तु पांडेजी को यह भान नहीं रहा कि आपने स्वयं ही आगे चलकर पृ० ३०१–२ में गौवध का २३ उपवास और मनुष्यवध का ३०० उपवास करना प्रायश्चित बताया है। यहाँ तक कि वहाँ पर चन्दन का तिलक लगाने की कोई बात तक नहीं है। क्या कोई भी छोटे से छोटा धर्म, मामूली जाति, कोई भी राजा अथवा कोई भी पञ्चायत तिलक लगाने से हत्यारों को निर्दोष मान सकती है ? यदि तिलक करने से ही नरवध और पशुवध का पाप दूर हो जाता होता तो आचार्य बड़े २ प्रायश्चित्त ग्रन्थोंकी रचना क्यों करते ? खेद है कि पांडे जी ने भगवान के चरणों पर चन्दन चढ़ाने का माहत्म्य बताने के लिये इतनी असंभव गप्प ठोक दी है ! सच बात तो यह है कि बिचारे पांडे जी ही क्या करें, उनसे पहिले भी अनेक पांडे जी ऐसे होगये हैं जो इसी प्रकार की अधार्मिक रचनाओं को संस्कृत में श्लोकबद्ध करके रख गये हैं ! और समाज आंखें बन्द करके बराबर मानती आरही है। इस लिये जब तक चर्चासागर के साथ ही साथ उन ग्रंथों का भी बहिष्कार न होगा तब तक मार्ग शुद्ध नहीं होगा।

# निर्माल्य द्रव्य का ग्रहण

पांडेजी ने पृ० २२० पर लिखा है कि "गृहस्थों को जिन पादार्चित अक्षत सुगंधलेप वा तिलक के ऊपर उङ्गली के अग्र-भाग प्रमाण ललाट पर लगाना चाहिये। इनमें निर्माल्य का दोष नहीं है! कारण कि निर्मालन भक्षण का दोष तो अक्षतों के खाने से होता है, विना खाये नहीं।" पांडे जी का अभिप्राय है कि निर्माल्य द्रव्य मुंह में डाल लेने से ही निर्माल्य-भक्षण का दोष लगता है। उसे खाने के सिवाय और तमाम कार्यों में ला सकते हैं!

पहिले तो यह देखिये कि जिनपादार्चिन अक्षत किन्हें कहेंगे? जैसे पांडे जी ने जिन चरणों पर लेप की गई केशर को जिनपादार्चित कहा है, क्या उसी प्रकार अक्षत भी भगवान के चरणों पर चढ़ाये जाते हैं? यदि वे चरणों के पास थाल आदि में चढ़ाये जाने से ही जिनपादार्चित अक्षत कहे जाते हैं तो फिर आपके द्वारा अनेक जगह प्रमाण देकर सिद्ध किया गया जिनपादार्चित चन्दन भी भगवान से दूर कटोरे आदि में चढ़ाने से ही जिनपादार्चित मानना होगा। तब भगवान के चरणों पर चन्दन चढ़ाना असिद्ध हो जायगा। इस उलझन का क्या निराकरण है?

सच बात तो यह है कि पांडे जी भोजनभट्ट भट्टारकों के परम भक्त चेले थे। इसलिये उनने अपने गुरुओं की स्वार्थ-सिद्धि के लिये निर्माल्य ग्रहण करने का एक मार्ग बनाया है। समाज भलीभांति परिचित है कि पांडे जी के दादा गुरुओं ने इसी प्रकार जैनियों को धर्म के नाम पर खूब लूटा है। और निर्माल्य द्रव्य पर अपना अधिकार बताकर उसे निःसंकोच ग्रहण किया है। यथा—

"गृहस्थों के प्रत्येक शुभाशुभ कार्यों में इनका टैक्स रहता है। ये पूजा प्रतिष्ठाओं में हज़ारों रुपये तो लेते ही हैं, इतने पर भी निर्माल्य द्रव्य के बिना उनका पेट नहीं भरता! यह भगवान के कुंडल मुकुट आदि उपकरण (जन्मकल्याणक के समय के), निछावर के रुपया, गादी तकिया और वस्त्रादि के सिवाय पूजा में मंत्रों द्वारा समर्पित अष्ट द्रव्यों में से नारियल बादाम सुपारी आदि भी बिकवा लेते हैं। अभिषेक में रुपया पैसा आदि चढ़वा लेते और उसे ग्रहण करते हैं। क्या यह सब निर्माल्य नहीं है?"

(भट्टारक मीमांसा पृ० ३)

इन्हीं बातों तक पहुँचा देने की प्रथम सीढ़ी पांडे जी ने भी बताई है। अतः समाज सावधान रहे।

पूजा में चढ़ाये गये अक्षत हों या पुष्पमाला हो, वह तो सभी निर्माल्य ही माने गये हैं। चढ़ाना तो दूर रहो, मात्र संकल्प करलेने में भी निर्माल्य हो जाता है और उसे ग्रहण करने वाला नरक का पात्र बतलाया गया है। देखिये भगवान कुन्दकुन्द स्वामी ने इस विषय में क्या कहा है—

*जिरगुद्धारपदिट्ठा जिणपूजा तित्थवंदण विसेयधणं*
*जो भुंजइ सो भुंजइ जिण दिट्ठं णिरयगई दुःखं ॥३२॥*

—*रयणसार*

अर्थात्—जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा और जिन पूजा तथा तीर्थवन्दना के विषय में दिया गया धन जो भोगता है वह जिनेन्द्र के द्वारा बताया गया नरक का दुःख भोगता है। इसी गाथा के पाठान्तर में 'जिणुद्धार पदिट्ठा' की जगह 'जिणधारण इट्ठा' भी पाया जाता है, जिसका अर्थ जिनेद्र के निमित्त धारण किया गया पदार्थ भी होता है। इससे सिद्ध है कि पूजादि में चढ़ाया

गया या संकल्प किया गया द्रव्य ग्रहण करना घोर पाप है। तव उन चावलों आदि को मस्तक पर लगाना आदि कहांतक ठीक है? जैनियों की तो वात ही क्या, किन्तु वैष्णवादिकों में भी निर्माल्य ग्रहण करने का स्पष्ट निषेध किया है। यथा—

"अग्राह्यंविष्णुनिर्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलं।"

अर्थात् विष्णु को चढ़ाया गया निर्माल्य द्रव्य, पत्र पुष्प फलादि भी, नहीं ग्रहण करना चाहिये। इतने पर भी जैसे स्वार्थी वैष्णव साधुओं ने निर्माल्य ग्रहण का प्रचार किया उसी प्रकार भट्टारकों ने जैन समाज में चलाया और अभी पांडे जी के ग्रन्थ से प्रचार हो रहा है!

## पितृतर्पणपर विचार।

चर्चा १६८ पृ० २२१ में पांडे जी ने तिलक लगाकर 'पिपृतर्पण' करने का विधान किया है। इसमें उसी मिथ्याचार (त्रिवर्णाचार) के चौथे अध्यायका ८५ वां श्लोक प्रमाण में दिया गया है। मगर मनमें कुछ दुविधा होने से अथवा भीतरी पोल पकड़ी जाने के भय से या तो पांडे जी ने ही या सम्पादक पंडित लालाराम जी ने त्रिवर्णाचार का नाम छुपाकर लिखा है कि "यह श्लोक दूसरी जगह लिखा है!"। पं० मक्खनलाल जी अपनी न्यायालंकारिता के वल पर ट्रैक्ट के ११७ पृष्ठपर झूठी एवं भ्रमोत्पादक वकालत करने वैठे हैं कि—"दि० जैनियों के यहां भी पितृतर्पण है, परन्तु उसका अर्थ जैसा अन्यमती करते हैं वैसा दिगम्बर जैन हर्गिज़ नहीं मानते!"।

पंडित जी महाराज अपने गुरु (!) पांडे चम्पालाल की वात रखने के लिये जैन समाज को धोखे में डाल रहेहैं। क्योंकि पितृतर्पणसे पांडेजीका भी ठीक वही अभिप्रायहै जो कि ब्राह्मणा-

दिकों में प्रचलित है। इसका कारण यह है कि पाडे जी ने जिस त्रिवर्णाचार का प्रमाण दिया है उसी ग्रन्थ में स्मृति आदि से चुराये गये श्लोकों द्वारा पितृतर्पण और श्राद्धकी सिद्धि की गई है। इसके लिये 'ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग' के पृष्ठ २१४ से २३४ तक एक बार अवश्य पढ़ जाइये। यदि पं० मक्खन-लाल जी अपने न्याय या सिद्धान्त के बलसे कुछ उत्तर देसकते हों तो मुख्तार सा० का वह ( ग्रन्थ परीक्षा ) चेलेंज पड़ा ही है। वे उठा लेवें!

पाडेजी या भट्टारक सोमसेन पितृतर्पण (पितरोंको जलादि से तृप्त करने) के पूर्ण पक्षपाती थे। चर्चासागर में जो त्रिवर्णाचार का श्लोक नाम या नम्बर छिपा कर दिया है, वह इस प्रकार है—

*जपो होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।*

*जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना ॥४-८५॥*

यहां पर 'दान' और 'पितृतर्पणम्' दो पद भिन्न २ दिये हैं। इसी से सिद्ध होता है कि पाडेजी का मतलब पितृतर्पण से पात्रदान का कदापि नहीं है। अन्यथा दो पद क्यों देते? किन्तु पं० मक्खनलाल जी ही ट्रैक्ट के पृष्ठ ११८ पर झूठी वकालत कर रहे हैं कि "तर्पण या श्राद्ध का अर्थ श्रद्धापूर्वक दान देने का है न कि पितरों को सन्तुष्ट करने का!" धन्य है इस न्याया-लंकारिता को! पण्डितजी महाराज! आप ऐसे कहां तक उलट पुलट करके पाडेजी की लाज रखेंगे? आपके मान्य ग्रन्थ त्रिवर्णाचार में तो पितरों को पानी देने के ऐसे अनेक श्लोक भरे पड़े हैं जैसे—

असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः।

तेषां सन्तोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया ॥३-११॥

अर्थात्—जो पितर संस्कारहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों, और जो देव जल के इच्छुक हों उनके संतोष के लिये मैं पानी देता (जलसे तर्पण करता) हूं! इसी के आगे के श्लोक में मरे हुये कटुम्बियों को अंजलि दी गई है। इत्यादि कई विधान पाये जाते हैं। फिर भी—

चर्चासागर को प्रमाणिक सिद्ध करने के लिये पं० मक्खनलालजी ने सत्य को छिपाने में तनिक भी संकोच नहीं किया है! आप जान बूझकर भी यह लिख रहे हैं कि "चर्चासागर में पितृतर्पण से मतलब उत्तम पात्रों को दान देना है!" मगर आपने यह विचार नहीं किया कि पांडेजी ने जिस त्रिवर्णाचार के आधार पर पितृतर्पण या श्राद्धकी बात लिखी है उसमें कई श्लोकों द्वारा ब्राह्मणादिकों की भांति श्राद्ध और पितृतर्पण सिद्ध किया गया है। और वे श्लोक अन्य मतावलंबियों के ग्रंथों से चुराये गये या उलट पुलट कर रखे गये हैं। त्रिवर्णाचार के पृष्ठ ७५ पर लिखा है कि—

जयादिदेवतानां च तर्पणं चाक्षतोदकैः।

एवं विधाय सन्ध्यायाः कर्म सान्ध्यं समापयेत् ॥३–१३२॥

अर्थात्—अक्षत और जल से जयादि देवताओं का तर्पण करे, इस प्रकार संध्याकर्म पूरा करना चाहिये। क्या पं० मक्खनलालजी इसे उत्तम पात्र दान कहेंगे?

न्यायालंकारजी ने यशस्तिलक चंपूके कई प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि "दि० जैनों में पितृतर्पण या श्राद्ध का निषेध किया गया है" यही तो हमारा भी कहना है! मगर आपके आगम ग्रन्थों (त्रिवर्णाचार–चर्चासागर) में जो इसकी पुष्टि की गई है, उसीका तो हम निषेध कर रहे हैं! फिर न जाने आप इन श्लोकों से क्या सिद्ध करना चाहते हैं! अस्तु।

# श्राद्धविधान ।

पं० मक्खनलाल जी पृष्ठ ११९ पर जैनसिद्धान्तानुसार श्राद्ध का भी अर्थ करने बैठे हैं और कई प्रमाण दे देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि "मुनियों को श्रद्धापूर्वक दान देना सो श्राद्ध है"। मगर आपके आचार्य (!) सोमसेन ने त्रिवर्णाचार में तो वही पितरों को पिण्डदान आदि देकर श्राद्ध का समर्थन किया है। जैसे—

*तीर्थतटे प्रकर्तव्यं प्राणायामं तथाऽचमम् ।*
*संध्या श्राद्धं च पिण्डस्य दानं गेहेऽथवा शुचौ ॥३-७७॥*

इसका अर्थ आपके मान्य पं० पन्नालाल जी सोनी ने इस प्रकार किया है कि—"प्राणायाम, आचमन, संध्यावंदन, और पिण्डदान ये नदी किनारेपर बैठकर करें अथवा अपने घर में भी किसी पवित्र स्थान पर बैठकर करें"। क्या पं० मक्खनलालजी इसे भी मुनिदान कहेंगे? इसके अतिरिक्त त्रिवर्णाचारके पृष्ठ २६२ में अध्याय ९ के १६ वें श्लोक में 'नन्दीश्राद्धं च पूजां च' आदि के द्वारा हिन्दुओं के नन्दी श्राद्ध का भी विधान किया है। विशेष ग्रंथपरीक्षा तृ० भाग से मालूम करिये। इसी त्रिवर्णाचार के आधार पर चर्चासागर में श्राद्ध और तर्पणका समर्थन किया गया है। तब पं० मक्खनलाल जी इसे जैनधर्म के अनुकूल कैसे मानते हैं सो कुछ समझ में नहीं आता! श्राद्ध के विषय में श्री देवसेन सूरि ने भावसंग्रह में लिखा है कि—

*कुणइ सराहं कोई पियरे संसारतारणत्थेण ।*
*सो तेसि मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥२९॥*

भावार्थ—जो पितरों का श्राद्ध करते हैं वे उसके नाम से

उसी का मांस भक्षण करते हैं। मगर खेदका विषय है कि त्रिवर्णाचार में श्राद्ध-तर्पण और संध्या वंदन की खूब पुष्टि की गई है। तथा चर्चासागर भी उसका पूर्ण समर्थक है। फिर भी पं० मक्खनलाल जी इन भ्रष्ट ग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं और जैन समाज की आखों में धूल झोंककर उसके अर्थ को पलट रहे हैं। खेद ! आप अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १२३ पर लिखते हैं कि—पितृतर्पण कहा जाय या पात्र तर्पण कहा जाय, दोनोंका एक ही अर्थ है !! क्या खूब ? पंडितजी की दृष्टि में पात्र और पितृ एक ही बात है ! जब पाठशाला का एक विद्यार्थी भी पितरों और पात्रों के भेद को जानता है तब हमारे विद्यावारिधिजी अपने पाडेजी को ढक रखने के लिये दोनों को एक बतला रहे हैं ! धन्य है इस न्यायालंकारिता को !

पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ ११८ पर लिखा है कि "श्राद्ध का अर्थ दि० जैन शास्त्रों के अनुसार श्रद्धापूर्वक दान देने का है, न कि पितरों को संतुष्ट करने का"। यह लिखना बिलकुल ठीक है, मगर जब चर्चासागर में "दानं स्वाध्याय पितृतर्पणं" आदि श्लोक में दान और पितृतर्पण को भिन्न २ बताया है तब उसका कथन दिगम्बर शास्त्रानुसार कैसे ठहरेगा ? दूसरी बात यह है कि चर्चासागर के जनक और आपके आगम ग्रंथ त्रिवर्णाचार के पृष्ठ ५७ पर श्राद्ध के अमुक दिन निश्चित किये हैं। यथा—

नवम्यां पंचदश्यां तु संक्रान्तौ श्राद्धवासरे।
वस्त्रं निष्पीडयेन्नैव न च क्षारे नियोजयेत् ॥ ३—३५ ॥

अर्थात् नवमी, पूर्णिमा, संक्रान्ति और श्राद्ध के दिन कपड़ा नहीं निचोड़ना चाहिये और खार में भी नहीं डाले। यहां पर यदि श्राद्ध का मतलब श्रद्धापूर्वक दान का होता तो दान

तो प्रतिदिन का श्रावक कर्म है, फिर श्राद्धवासरे (श्रद्धा के दिन) ही धोती न निचोड़ने की आज्ञा क्यों दी ? इसी से सिद्ध है कि त्रिवर्णाचार और चर्चासागर की मंशा जैन समाज में श्राद्ध और पितृतर्पण के प्रचार की थी।

पांडेजी ने जो तिलक लगाये विना जप होम आदि करने की मनाई की है उसमें कोई युक्ति या आगम प्रमाण नहीं दिया और न उसके समर्थक पं० मक्खनलाल जी आदि ने ही कोई कारण वतलाया है कि तिलक के बिना यह कार्य क्यों नहीं करना चाहिये ? यदि करे तो क्या २ उपद्रव हो जायेंगे ? तिलक का कर्म बंध से क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि कुछ भी नहीं लिखा है। सच बात तो यह है कि यह श्लोक भी अजैन ग्रन्थों से उड़ाया गया है। कारण कि वह "गोप्रदानं जपो होमःस्वाध्यायः पितृतर्पणम्" आदि शब्द-कल्पद्रुम के श्लोक से मिलता जुलता है। इसके लिये देखिये ग्रंथपरीक्षा तृतीय भाग पृष्ठ १३४ से १३७ तक।

## चन्दनचर्चा !

पाठकों को मालूम हुआ होगा कि यह पितृतर्पण और श्राद्ध आदि का प्रश्न भी पांडे जी की चन्दनचर्चा मे से निकले हैं। कारण कि वे सब काम तिलक लगवा कर ही कराना चाहते हैं और तिलक का चन्दन भगवान के चरणों में लेप किया हुआ होना चाहिये। इससे चन्दन लेप करना अनिवार्य हो जायगा। वस इसी के लिये पांडेजी का सारा प्रयत्न है। इसी लिये आगे भी पांडेजी ने चर्चासागर के कई प्रमाण, अप्रमाण ग्रन्थों के प्रमाण देकर कई पृष्ठ भरे हैं। हम उन सबका उत्तर न देकर मात्र इतना ही लिखते हैं कि पांडेजी ने उन श्लोकों में कई जगह तो अर्थका अनर्थ किया है, कई जगह उलटफेर कर दिया

है और कई जगह अपनी ओर से अर्थ मिला दिया है। जैसे—पृ० २२२ पर "परिमल" आदि एक श्लोक दिया है। गंध चरणों पर लगाने का कोई उल्लेख नहीं है, फिर भी आपने यही अर्थ कर डाला है। पृष्ठ २२३ पर पद्मनन्दिपंचविंशतिका का एक श्लोक है—

कर्पूरचन्दनमितीव समर्पितंसत् ।
त्वत्पाद पंकजसमाश्रयण करोतु ॥

यहा पर चन्दन का अर्पण करना और चरणों का आश्रय देना लिखा है। किन्तु इसका अर्थ लेप करना कैसे हो सकता है? वैसे तो नैवेद्य दीप धूपादि भी अर्पण ही की जाती हैं, तो क्या वे भगवान के चरणों पर चढ़ा दी जाती हैं? तथा भक्तजन भी चरणों के आश्रय की आकांक्षा करते रहते हैं तो क्या वे भगवान के चरणों पर चढ़ बैठते है? सच बात तो यह है कि पांडेजी ने अपने मतलब का अर्थ कई जगह कर डाला है।

इसी प्रकार 'चर्चयेंघ्रिम्' 'चर्चयेजिनम्' तथा 'समर्चयामि' इत्यादि का अर्थ पाडेजी ने भगवानके चरणों पर लेप करना किया है। किन्तु यह सब अर्थ पक्षपात के वशीभूत होकर किया गया है। यदि अर्चयेत् आदि का अर्थ विलेपन करना ही होवे तो जैनियों में जो पुजा में 'नेत्रोन्मील विकाश' आदि बोलते हुये कहा जाता है कि—

"सिद्धस्वादमगाधबोधमचलं संचर्चयामो वयम्"

यहां पर क्या अर्थ किया जायगा ? यहा पर तो बोधं (ज्ञान को) समर्चयामः ( पूजताहूँ ) ऐसा अर्थ होता है, यदि लेप करना मानेंगे तो अमूर्तिक ज्ञान को कैसे लेप किया जायगा ? क्या शास्त्रों पर चन्दन चुपड़ना चाहिये ?

पक्षान्ध-पांडेजी—पाडेजी ने इधर उधर के कई श्लोकों

को भरमार करने के बाद पृ० २२९ पर पक्षान्ध होकर किसी जाली जिनसंहिता का एक श्लोक उद्धृत किया है कि—

अनार्चित पदद्वन्दं कुकुमादिविलेपनैः ।
बिम्बं पश्यति जैनेन्द्रं ज्ञानहीनः स उच्यते ॥

इसका अर्थ लिखा है कि "जिसके चरण कमल केशर चन्दन आदि के रससे लेपन नहीं किये गये हैं ऐसी मूर्तिका जो दर्शन करते हैं वे अज्ञानी है ! ऐसे लोगोंको ज्ञानहीन कहते हैं"।

इससे आगे एक श्लोक देकर लिखा है कि चन्दनादि से चर्चित हुये भगवान के चरण कमलों के जो दर्शन नहीं करता वह कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता !!!

पाठक विचार सकते हैं कि यह कितनी पक्षान्धता है ! चन्दनयुक्त मूर्ति के दर्शन नहीं करना एक बात है, और चन्दन रहित मूर्ति के दर्शन करना दूसरी बात है। इन दोनों में घोर पाप अज्ञान और धर्महीनता बताना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? भारत में ऐसे लाखों जैन हैं जो चन्दन रहित मूर्ति के ही दर्शन किया करते हैं। शुद्धाम्नायी जैनों में तो भगवान को चन्दन लगाया ही नहीं जाता, कारण कि वह एक प्रकार का आवरण है-परिग्रह है-शृंगार है ! तब क्या वे सभी जैनी अज्ञानी हैं ? उत्तर हिन्दुस्थान में तेरह पंथाम्नाय के मन्दिरों में आचार्य शान्तिसागर जी के संघ से लेकर पं० मक्खनलाल जी तक सभी चर्चासागरानुयायी चन्दन रहित मूर्ति के दर्शन किया करते हैं, तो क्या उन्हें भी अज्ञानी कहा जाय ? हां, इतनी बात अवश्य है कि आचार्य संघ उत्तर प्रान्त में शुद्धाम्नाय पर पानी फेरने और चन्दन फूल चढ़वाने का प्रयत्न बराबर करता रहता है, यह बात समाज से छिपी नहीं है।

जिस प्रकार वसुनन्दि संहिता का श्लोक चर्चासागर में

उद्धृत करके चन्दन विलेपन से रहित मूर्ति का देखना अज्ञान बतलाया है, ठीक उससे उल्टा एक संधि भट्टारक कृत संहिता में लिखा है कि—

पश्येन्नो जिनबिम्बस्य चार्चितं कुंकुमादिभिः ।
पादपद्मद्वयं भव्यैः तद्वद्यं नैव धार्मिकैः ॥

अर्थात्—कुंकुमादि से लिप्त जिन बिम्ब के चरणद्वय नहीं देखना चाहियें, कारण कि धार्मिक भव्यों के द्वारा वे चरणयुगल वन्दनीक नहीं हैं।

ऐसे परस्पर विरोधी श्लोकों की रचना क्यों और कैसे हुई सो विद्वान लोग स्वयं विचार सकते हैं। पांडे जी ने चन्दन रहित मूर्ति का दर्शन करना अज्ञान बताया है, मगर वे चर्चासागर पृ० १६८ पर स्वयं लिख आये हैं कि "जिन प्रतिमा के चरणों पर गंधलेपन कर तथा प्रतिमा को वस्त्र से पोंछ कर सिंहासन पर विराजमान करे"। तब वह प्रतिमा वस्त्र से पोंछने पर चन्दन रहित होजायगी और अभिषेक के समय तो चन्दन रहित होती ही है, तब क्या उस समय चर्चासागर भक्त आखों पर पट्टी बांध लेते हैं? यदि नहीं तो सभी अज्ञानी ठहरेंगे। यदि वास्तव में देखा जाय तो पाडेजी का और पाडेजी के संहिताकार का कथन ही अज्ञानपूर्ण है।

१—समवशरण में साक्षात् भगवान निर्लेप विराजमान रहते हैं, उनके चरणों पर कोई चन्दनादिका लेप नहीं होता है. तब क्या उनके दर्शन करने वाले सभी अज्ञानी होंगे? मन्दिर और मूर्ति भी समवशरण की प्रतिकृति है। तब फिर वहां पर भी क्यों चन्दन लेप होना चाहिये?

२—गंगादेवी के मन्दिर पर विराजमान जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगानदी की धारा निरंतर पड़ती रहती है (देखो

त्रिलोकसार गाथा ५८५) ऐसे महाप्रवाह में प्रतिमा जी के चरणों पर चन्दन का रहना असंभव है। किन्तु उस प्रतिविम्ब का दर्शन पूजन बड़े २ देव किया करते हैं। तव क्या वे अज्ञानी हैं ?

३—यदि गंध लेप सहित प्रतिमा ही पूज्य मानी जाय तो पूज्यापूज्यता का ठेका चन्दन को ही समझना चाहिये और मूर्ति को केवल अज्ञान तथा पाप को कारण भूत मानना होगा! वैसे गंध-लेपनही ज्ञान का कर्ता कहा जावेगा।

४—मूलाचारमें अचेलक गुणके वर्णन में लिखा है कि—
" णिब्भूषण-भूषणानि-कटककेयूरमुकुटाद्याभरणमंडनविलेपन-धूपनादीनि तेभ्यो निर्गतं निर्भूषणं सर्वरागाग विकारा भावः।"

यहां पर भूषण रहित में कटक केयूर मुकुटादि आभरण तथा सुगन्धि विलेपनादि का निषेध किया गया है और इसे राग का कारण तथा विकारभाव में हेतु वताया है। तव विचार करिये कि तीर्थंकर भगवान की वीतराग-निर्विकार मूर्तिको चन्दनादि लगाकर विकारमय वनाना कहां तक ठीक है ? पाडे जी की तो वात ही निराली है, कारण कि वे चन्दन लेप ही नहीं किन्तु भगवान को माला और मुकुट तक पहिनाने के पक्षपाती हैं। यही कारण है कि—

"ये (भट्टारक भक्त) प्रतिमाओं को केशर के लेप व फूलों से इस प्रकार आवरण कर देते हैं कि दिगम्बरत्व का अभाव ही हो जाता है। सो भी यहा तक कि ईडर के सम्भवनाथ के मन्दिर में पर्यूषण पर्व में फूलों की आगी वनाई जाती है। भिलोंडा, चोटासन, रामपुर, पोशीना आदि स्थानों के दि० मन्दिरों में आगी चादी सोने की रचाई जाती थी और आंगी रचानेवाला व्यक्ति असुक भेंट भट्टारक जी की गादी खाते जमा करता था। भिलोड़ा, चोटासन, रामपुर आदि की आगिया मैंने ( पं० दीप-

चन्द जी वर्णी ) अपनी पूर्व उपदेशकीय अवस्था में स्वयं बन्द कराई हैं। इन्हीं अहंमन्य गुरुओं की कृपा से डूंगरपुर आदि स्थानों के कई दिगम्बर जैन मन्दिर श्वेताम्बरों के कब्ज़े में चले गये।" (भट्टारक मीमांसा पृ० ५)

जैन समाज को वर्णीजी के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये और अन्ध भक्ति के भयंकर परिणाम पर विचार करना चाहिये।

**आदिपुराण का छलपूर्ण प्रमाण**—पांडे जी ने भगवान के चरणों पर चन्दन लगाना सिद्ध करने के लिये पृ० २२५ पर आदिपुराण के सर्ग २३ का १०६ वा श्लोक "अथोत्थाय" इत्यादि प्रमाण में दिया है। मगर आपने इसमें इतना छल किया है कि श्लोक का सम्बन्ध अधूरा ही रख कर अपना मतलब निकाल लिया है कि इन्द्र संतुष्ट होकर खड़े हुये और गंध-माला दीप धूप अक्षत चरु आदि से उन्होंने स्वयं भगवान के चरणों की पूजा की। किन्तु आगे का श्लोक जो छलपूर्वक छिपाया गया है वह इस प्रकार है—

"पुरो रंगवल्यातते भूमिभागे, सुरेन्द्रोपनीता बभौ सारुपर्या ॥"

अर्थात्—इन्द्र द्वारा की गई वह पूजा (द्रव्य) अग्रभाग में रंगावली से विस्तृत भूमिभाग में शोभा देती थी। इससे सिद्ध है कि अष्ट द्रव्य भगवान के समीप रंगावली से-भूमिभाग में चढ़ाया जाता है। अन्यथा कुछ बुद्धि से भी तो विचारना चाहिये कि चन्दन की भांति अक्षत, पुष्प, नैवेद्य और दीप धूप फलादि भी भगवान के चरणों पर कैसे चढ़ाये जाते होंगे? वास्तव में पांडे जी ने जिस प्रकार इस श्लोक में छल किया है उसी प्रकार की अनेक चालाकियों का जगह जगह उपयोग किया है, जिन्हें हम यहाँ विस्तार भय से प्रगट नहीं कर सकते हैं।

सावद्यपूजा—पांडेजी ने पृ० २३२ पर लिखा है कि "जो लोग जिनाभिषेक आदि में सावद्यलेश बतलाते हैं वे पापी हैं और सम्यग्दर्शन के घातक हैं।" किन्तु पांडे जी को यह भान नहीं था कि यह श्लोक उनके लिये लिखा गया है जो सावद्य के बहाने से बिल्कुल पूजा पाठ आदि बन्दकर बैठे हैं। मगर पांडेजी ने जिनशुद्धाम्नायियों पर यह जघन्य आक्षेप किया है वे अभिषेक पूजादि का निषेध नहीं करते हैं, किन्तु शुद्ध द्रव्यों का उपयोग करने का विधान करते हैं। अन्यथा हज़ारों त्रसों से युक्त फूल तथा मनों दूध दही और गोबर तथा गोमूत्र में तो असंख्य त्रस-जीवों की उत्पत्ति है। उनसे पूजा-अभिषेक करने में यदि सावद्य का दोष नहीं माना जाय तो फिर सावद्य किसे कहेंगे?

## रात्रिपूजा विचार।

बड़े दुःख का विषय है कि मुझे इन पंथीय पक्षों की समालोचना या समीक्षा में उतरना पड़ता है। मेरी यह कभी भी इच्छा नहीं है कि तेरह बीस की मान्यताओं का परस्पर खण्डन मण्डन करके विद्वेष बढ़ाया जाय, किन्तु जब पांडे चम्पालाल ने अपने पक्ष को सिद्ध करते हुये शुद्धाम्नाय पर आक्रमण किया है, उसकी निन्दा की है, और हंसी उड़ाई है तब मुझे उसकी सत्य समीक्षा करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

पांडेजीने पृ० २३३ पर रात्रिपूजन का कोई शास्त्रीय प्रमाण न देकर मात्र एक उदाहरण पेश किया है। आप लिखते हैं कि "वज्रजंघ ने विवाह के बाद अभिषेक पूर्वक भगवान की पूजा रात्रि में की थी। इसमें महापुराण का प्रमाण भी दिया गया है।" किन्तु प्रथमानुयोग का कथारूप कथन आज्ञा नहीं मानी जा सकती। कारण कि जिसने जैसा किया वैसा ही कथा में लिखा जाताहै। दूसरी बात यह है कि उस समय श्रीमती व वज्रजंघने

सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया था, कारण कि श्रीमती व वज्रजंघ अपना वह भव त्याग कर उत्कृष्ट भोगभूमि में हुये और वहां पर पूर्व भव के मन्त्री स्वयंबुद्ध के जीवने उपदेश देकर उन्हें सम्यक्त्व ग्रहण कराया था (देखो महापुराण पर्व ९ श्लोक १४८)। इससे सिद्ध है कि श्रीमती व वज्रजंघ पूजा समय मिथ्यादृष्टि थे, और मिथ्यात्वी द्वारा की गई क्रिया प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

इसके अतिरिक्त धर्म संग्रह के अ० ६ श्लोक २५ में भी दैवकर्म आदि का निषेध किया है। यथा—

*न श्राद्ध दैवतं कर्म स्नानं दानं च चाहुतिः।*
*जायते यत्र किं तत्र नराणा भोक्तुमर्हति ॥*

अर्थात्—जिस रात्रि के समय में श्राद्ध, दैव कर्म (पूजादिक) स्नान दान और आहुति आदिक नहीं की जाती है उस रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है? हाला कि यहां पर रात्रिभोजन-निषेध का प्रकरण है, किन्तु इसमें रात्रिकाल के निषिद्ध दैव कर्म (पूजादि) का भी स्पष्ट निषेध लिखा है। इसी प्रकार अमितगति श्रावकाचार में आचार्यवर्य अमितगति महाराज ने कहा है कि—

*यत्र सर्वशुभ कर्म वर्जनं, यत्रनास्तिगमनागमक्रिया।*
*तत्र दोष निलये दिनात्यये धर्मकर्म कुशला न भुंजते ॥*

यहा पर भी रात्रिभोजन का निषेध बताया है। किन्तु साथ ही रात में सर्व शुभ कार्यों का वर्जन भी बताया है। चूंकि पूजा एक महान् शुभकार्य है, अतः वह रात्रि में कैसे की जा सकती है?

यदि पक्षपात छोड़कर देखा जाय तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि रात्रिपूजा में पुण्य की अपेक्षा आरंभ और हिंसा

अधिक होती है। कारण कि रात्रि में प्रचुर जीवराशि उत्पन्न होती है; दिया, बिजली या लालटैन के प्रकाश में लाखों मक्खियां आदि जीव पूजन के द्रव्य जल चंदन और दूध आदि में आकर पड़ते हैं और अपने प्राण विसर्जन कर देते हैं। इसलिये यदि रात्रिपूजन का हठ छोड़कर दिन में ही पूजा की जाय तो विशेष पुण्य की कारण होगी।

दूसरी बात यह है कि पांडेजी ने जो वज्रजंघ व श्रीमती के विवाह के समय का रात्रिपूजा का प्रमाण महापुराण में से दिया है वह भी ठीक नहीं है, कारण कि वह रात्रि समय का कथन नहीं है। क्योंकि उसी श्लोक में लिखा है कि—

*"कृतेर्याशुद्धि रिद्धार्द्धः प्रविश्य जिनमन्दिरे।"*

अर्थात्—वह ईर्यापथ शुद्धि करते हुये जिन मन्दिर में गये। लेकिन ईर्यापथ शुद्धि रात्रि को नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त इसी श्लोक में 'प्रदोषे' पद दिया है, जिसका अर्थ रात्रि नहीं किन्तु सायंकाल होता है। यथा-'प्रदोषो रजनी-मुखं' इत्यमरः। तथा पूजा त्रिकाल में-पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न में बताई गई है, कहीं भी रात्रि को नहीं लिखी। इसलिये हठ को छोड़कर सत्य का ग्रहण करना चाहिये।

पाडेजी ने पृ० २३४-२३५ में कुछ इधर उधरके असंबंध श्लोक रख दिये हैं, जिनमें कि दान पूजा आदि के सर्वथा निषेधकों की निन्दा की गई है। किन्तु समझ में नहीं आता कि पांडेजी उनको रात्रिपूजा निषेधकों पर कैसे लगाना चाहते हैं। उन्हीं श्लोक में पाडेजी ने "देवतादत्त नैवेद्य ग्रहण' अर्थात् देव को चढ़ाये हुये निर्माल्य ग्रहण करने वाले को भी पापी बताया है। किन्तु यह श्लोक तो उल्टा पाडेजी और चर्चासागर भक्तों पर लागू होता है, कारण कि चर्चासागर में निर्माल्य ग्रहण में दोष नहीं माना है।

पांडेजी ने आगे चलकर शुद्धाम्नायियों की मात्र निन्दा की ही दृष्टि से अनेक असंगत एवं असंबंध श्लोक तथा दृष्टान्त लिख मारे हैं। मगर विवेकी पुरुष समझ सकेंगे कि वे किनको और कहां लागू होते हैं। उन सब की समीक्षा हम यहाँ नहीं करना चाहते, किन्तु एक ही दृष्टान्त देकर यह प्रकरण समाप्त करते है। पांडेजी ने पृ० २३७ पर लिखा है कि श्रीपाल ने पूर्व-भव में मुनि से ग्लानि की इससे वह कोढ़ी हुआ। इसी प्रकार भगवान की प्रतिमा में मैलयुक्त कल्पना करने वाले भी पाप के भागी हैं। किन्तु पांडेजी को पक्षपाती चश्मे में से यह नहीं दिखता था कि मुनि के साथ ग्लानि की भांति शुद्धाम्नायी या कोई भी जैन प्रतिमाजी के साथ ग्लानि कहां करता है? ग्लानि करने में अवश्य दोष है। पांडेजी ने अपना पाण्डित्य बताने के लिये कई श्लोकों और प्रमाणों की व्यर्थ ही भरमार की है, जो कि विद्वत्समाज के समक्ष हास्यकारक है।

पांडेजी की उच्छृंखलता—पांडेजी ने रात्रिपूजा के बाद फिर अभिषेक का प्रकरण उठाया है। उसमें से प्रायः बहुत का उत्तर पहिले दिया जा चुका है। यहां पर मात्र इतना ही बताना है कि पांडे जी ने कहीं २ आवेश में आकर या पक्षान्ध होकर शुद्धाम्नायियों के प्रति कितने उच्छृंखल शब्द लिख डाले हैं। यथा—तुम लोग अभिषेक से होने वाले पुण्य को नहीं समझते (पृ० २३८), जीव की जैसी होनहार गति है उसकी बुद्धि भी वैसी होती है (पृ० २३९, यहां शुद्धाम्नायियों की विपरीत बुद्धि बताने का अभिप्राय है), निन्दा करने वाला सबसे बड़ा चाण्डाल है (२४०—यहां शुद्धाम्नायियों को निन्दक बताकर चाण्डाल कहा है), ऐसे पुरुष तुच्छ बुद्धि वाले कहलाते हैं (२४२), दो व्यापारियों का भद्दा दृष्टान्त (पृ० २४२) शुद्धाम्नायियों पर लागू करना चाहा है, पृष्ठ २४६ पर बहुत ही तुच्छ शब्द लिखे

है, पृ० २५३ पर "परयोनिगतो विन्दुः कोटि पूजां विनश्यति" आदि बिलकुल असंगत दृष्टान्त देकर अपनी बुद्धिमानी बताई है। यह देखकर याद आ जाता है कि "कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनवा जोड़ा"। पृ० २५६ पर शुद्धाम्नायियों को लक्ष करके लिखा है-जैसे आप झूठे हो वैसा ही सबको जानते हो! तुम्हारे समान ज़बरदस्ती कल्याण करने वाला और कोई नहीं दिखता !.........क्योंकि झूठे को झूठा दिखता है। बाद में पृ० २५७ पर वर्तमान युग के जैनियों को सच्चा धर्म का भान कराने वाले भाषा वचनिका पर आक्रमण करते हुये पाडे जी लिखते हैं कि 'तुम्हारे जो भाषा वचनिका के शास्त्र हैं वे पूर्वाचार्यों के वचनों के प्रत्यक्ष विरोधी हैं' !!! मगर पांडे जी को कहा भान है कि यदि आज यह आर्ष मार्गानुकूल भाषा ग्रंथ न होते तो जैन समाज और जैनधर्म की न जाने क्या गति होती ? सच बात तो यह है कि पांडे जी ने चर्चासागर में पद पद पर पंथीय पक्ष से काले हृदय का दिग्दर्शन कराया है। अस्तु।

## सम्यग्दृष्टियों का घोर अपमान !

पांडेजी ने पृ० २७० पर एक दम कुद कर वर्तमानके सम्यग्दृष्टियों का स्वरूप बताया है और उसमें एक भद्दा निर्लज्ज एवं असभ्य उदाहरण देते हुये लिखा है कि दुर्वासाऋषि सोलह हज़ार थाल भोजन करने पर भी अल्पाहारी कहाये और कृष्ण १६ हज़ार गोपियों को भोग करके बालब्रह्मचारी रहे, उसी प्रकार आजकल के सम्यग्दृष्टि हैं। यहां पर भी पाडे जी का लक्ष्य तो खास करके शुद्धाम्नायियों के प्रति ही रहा है और दृष्टान्त में महा अश्लील श्लोक देकर अपनी सभ्यता बताई है। यथा—"परयोनिगतो विन्दुः कोटि पूजां विनश्यति। यावद्वीर्यस्खलनं न भवति तावद्ब्रह्मचारीति श्रुतिः।" इत्यादि। इसका हिन्दी

अर्थ लिखना हम ठीक नहीं समझते हैं। पांडे जी ने मात्र शुद्धाम्नाय की निन्दा के हेतु से ऐसी अनेक असभ्य धृष्टतायें की हैं कि जिनको हम यहां वर्णन नहीं कर सकते।

पांडेजी की नीचता—पांडेजी ने पृ० २७२ पर तेरह पंथियों को खूब ही नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। आपने पहिले तो लिखा है कि तुम लोग पूजा में विविध व्यंजन न चढ़ाकर खोपरे की चिटक ही चढ़ाते हो, दीपक की जगह रंगी चिटक चढ़ा देते हो तथा स्वादिष्ट फलों के बदले बादाम चढ़ाते हो, इत्यादि; यह तुम्हारा लोभ है। फिर लिखा है कि "ऐसे लोग स्वयं सुगंधि लगाते हैं, पुष्पमाला पहिनते हैं, पान इलायची आदि खाते हैं, दूसरे के यहाँ माग मांग करके भी पकवान खाते हैं तथा अपनी चित्तवृत्ति को किंचित् भी नहीं रोकते। देखो यदि अपने शरीर में विषय भोगने की हीनता आजाती है, वीर्य क्षीण हो जाता है तब दूध पीते हो, पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते हो, वाजीकरण के उपाय करते हो किन्तु पूजा अभिषेक आदि के कार्यों में मायाचारी करते हो।" इत्यादि।

इस प्रकार तुच्छ नीचतापूर्ण और असभ्य आक्रमण करके पांडेजी ने अपनी कालिमायुक्त मनोवृत्ति को स्पष्ट बतला दिया है। क्या उन्हें यह भान नहीं होगा कि शुद्धाम्नायी लोभवश नहीं किन्तु सावद्य परिहार के लिये धार्मिक कार्य यत्नपूर्वक करते हैं! वह सब जानते थे. किन्तु उन्हें तो अपनी नीचता बतलानी थी।

ऐ निष्पक्षता की डींग मारने वालो! कहां गये? बड़े २ शास्त्रीय प्रमाण आदि द्रै कृ लिखकर निष्पक्ष बनने का दावा करते हुये आप लोगों ने लिखा है कि चर्चासागर के विरोधी लोग समाज में तेरह पंथ और बीस पंथ की आग लगाना

चाहते हैं। किन्तु अब मैं उनसे पूछता हूँ कि यदि आँखें हों तो चर्चासागर की मनोवृत्ति को देखो, हृदय हो तो उसे पहिचानों और विवेक हो तो उस पर विचार करो कि तेरह बीस का झगड़ा कौन कराना चाहता है ?

## गोबर की पवित्रता !

चर्चा १६६ पृ० २७६—में पाडेजी ने फिर उसी गोबर पूजा की बात छेड़दी है। पृ० १७८ और १८० पर पाडेजी ने गोबर को पवित्र बताया, पूजा योग्य बताया, आरती के लायक़ बताया और आठों कर्म के नाश करने में हेतु बताया, फिर भी आपके मस्तिष्क में गोबर भरा ही रहा है। और आगे चलकर पृ० २७६ पर उसे फिर निकाल दिया। पहिले शङ्का की है कि "पूजा में दाभ, दूब, गोमय, भस्मपिंड, सरसों आदि पदार्थ लिखे हैं सो ये पदार्थ तो अपवित्र हैं, हिंसा आदि अनेक दोषों से भरे हैं, इसलिये इनको पूजा में क्यों लेना चाहिये ? तथा अष्ट द्रव्यों में कौन २ से द्रव्य लेना चाहियें ?"

पांडेजी ने इस सुयोग्य शङ्का का समाधान इस प्रकार किया है कि "ये सब अपवित्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु मांगलिक द्रव्य हैं। जिस प्रकार लोग, हल्दी, लाख, मैनफल आदि मांगलिक पदार्थ विवाह में वर कन्या के हाथ में बाधते हैं उसी प्रकार अभिषेक पूजा प्रतिष्ठा आदि में इन मंगल द्रव्यों को ग्रहण किया है।" इत्यादि।

यहां पर पांडेजी विवाह और पूजाकी समानता मिलाने बैठे हैं, और सरासर यहाँ भी अपवित्र विष्टा को पवित्र और मांगलिक द्रव्य बताने की धृष्टता की है। शङ्काकार की शङ्का का कोई भी युक्तिपूर्ण समाधान नहीं किया है, और न यह बता सके हैं कि पशु विष्टा पवित्र कैसे हो सकती है ? 'गोबर मे

असंख्य जीवों की उत्पत्ति होने से हिंसा का दोप होगा' इसका भी कोई समाधान नहीं कर सके हैं। वड़े ही आश्चर्य की बात है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि सभी प्रमाणों से अपवित्र गोवर को पाडेजी पूजा के योग्य वता रहे हैं। किन्तु गोवर पंथी पं० मक्खनलालजी ने अपने ट्रैक्ट में पृ० ६८ पर दावे के साथ लिखा है कि 'चर्चासागर में गोवर से पूजा का विधान कहीं नहीं वताया है'। उन्हें चर्चासागर के पृष्ठ २७६ पर तनिक दृष्टिपात करने की ज़रूरत है। गोवर की पूजा और उसकी शुद्धि आदि के विपय में पहिले हम वहुत कुछ लिख आये हैं। मगर यहां पर पं० लालारामजी शास्त्री भापान्तरकार ने जो गड़वड़ की है हम उसे प्रगट करना चाहते हैं।

आपने वसुनन्दिश्रावकाचार की टीका का प्रमाण देते हुये लिखा है कि "यथा विवाह समये वरकन्यायाः हस्ते लोह लाक्षा-सर्पपहरिद्रा दीयन्ते तथा अभिषेकप्रतिष्ठादौ दर्भदूर्वागोमयसर्पपादीनि मंगल द्रव्याणि गृह्यन्ते' अन्यत्किमपि नास्ति।" किन्तु हमारे पास जो हस्तलिखित प्रति अजमेर से आई है उसमें "तथा अभिषेक प्रतिष्ठा दौ दर्भ दूर्वा गोमय सर्प-पादीनि मंगल द्रव्याणि गृह्यन्ते" यह पंक्ति है ही नहीं। संभव है कि पण्डित जी ने ही जोड़ दी हो। कुछ भी हो पं० लालाराम जी आदि तीनों भाई तथा उनकी कम्पनी और आ० शान्तिसागर जी आदि गोवर के पुजारी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। विचारे आ० शान्तिसागर जी इन पंडितों की चुङ्गल में फंस कर ऐसे स्पष्ट अघोर पंथ का भी विरोध करने का साहस नहीं रखते हैं, यह वड़ा ही दयनीय विपय है!

पाडे जीने पृष्ठ २७७ पर ही लिखा है कि "गोमय आदि मंगल द्रव्यों के ग्रहण करने का और कोई प्रयोजन नहीं है। पहिले के महापुरुप जो करने चले आये हैं वही किया जाता है"।

किन्तु क्या कोई भी गोवरपन्थी शास्त्रीय प्रमाण देकर बतला सकता है कि अमुक महापुरुष ने गोबर से पूजा की थी और गोमूत्र से अभिषेक किया था ? न जाने इस गोवर और गोमूत्र से भगवानकी पूजाअभिषेक करने जैसे अघोरपंथी कार्यों में कुछ दुराग्रही पण्डितों को ग्लानि क्यों नहीं होती ! मैं उन गोवरभक्तों से पूछता हूँ कि यदि कोई शिष्य भक्तिवश होकर आपको गोमूत्र से स्नान करावे और ताज़े गोबर से पूजा आरती करे तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ? गुरुपूर्णिमा प्रति वर्ष आया करती है । उसी समय यह पवित्र गुरुपूजा क्यों न करली जाय ? यदि आप इस पूजा को पसन्द नहीं करेंगे तो फिर भगवान ने ही आप का क्या विगाड़ा है ?

हाँ, एक बात तो किसी ने बतलाई ही नहीं ! कि गोबर को अष्टद्रव्यों में से कौन से द्रव्य में शामिल किया जाय ? कारण कि पूजा के द्रव्य तो शास्त्रों में ८ ही बताये हैं। क्या आप लोग गोबर को नैवेद्य में मानते है या किसी अन्य द्रव्यमें ? इसका भी खुलासा कर देना चाहिये । इस गोवरपूजा के आविष्कार ने तो जैनधर्म की सारी फिलासफ़ी को एक कोने में रख दिया है। भगवन् ! गोवरपंथियों को सद्बुद्धि प्राप्त हो !

## कुदेवों की पूजा !

चर्चा १७० पृ० २७७—पर शङ्का की गई है कि यक्ष यक्षिणी नव ग्रह क्षेत्रपाल आदि की पूजा सम्यग्दृष्टि जैनों को क्यों करना चाहिये ? इसके समाधान में पांडेजी लिखते हैं कि "अन्यमत के स्थापन किये हुये कुदेवों के पूजन करने का निषेध है; जिनशासन देवों का निषेध नहीं किया है" । इस युक्ति को देखकर पांडेजी की बुद्धि पर दया आती है। कारण कि इसका अर्थ तो यही हुआ कि दूसरे के द्वारा रखा गया ज़हर नहीं

खाना चाहिये और दूसरे के द्वारा लाई गई शराव नहीं पीना चाहिये, किन्तु अपने द्वारा लाई गई, बनाई गई या रखी गई शराव पीना चाहिये, विष खाना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि पांडेजी तो पहले यक्ष राक्षस भूत पिशाच काली महाकाली और भैरव भवानी आदि की भी पूजा बतला आये हैं। तो क्या वे सभी जिनशासन देव हैं ? जैनधर्म में तो जिनेन्द्र भगवान के सिवाय कोई भी देव पूजा करने योग्य नहीं है। जैनी का मतलब ही यह होता है कि एकमात्र जिनेन्द्र भगवान ही जिसका देव हो वही जैन है। तब यहां पर काली महाकाली, यक्ष यक्षिणी या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि को पूज्यता का स्थान हो ही नहीं सकता। इस विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

पांडेजी ने यक्षादिकों की पूज्यता सिद्ध करने के लिये कुछ जाली और वेषी भट्टारकों के बनाये हुये पूजा पाठ, संहिता और त्रिवर्णाचार आदि के प्रमाण दिये हैं। मगर परीक्षा करने पर ग्रन्थ जैनागम के अनुकूल नहीं ठहरते हैं। ऐसे ही ग्रन्थों के विषय में आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने लिखा है कि—

"बहुरि केई पापी पुरुषां अपना कल्पित कथन किया है। अर तिनकों जिनवचन ठहरावैं हैं। तिनकों जैनमत का शास्त्र जानि प्रमाण न करना। तहां भी प्रमाणादिक तैं परीक्षा करि विरुद्ध अर्थ कों मिथ्या जानना।...बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही करि जैनी हैं, ते भी मिथ्यादृष्टि जानने।"

—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३०७।

पांडेजी ने क्षेत्रपाल आदि की पूज्यता सिद्ध करने के लिये कई श्लोक दिये हैं, किन्तु उनमें से यह अर्थ किसी का भी नहीं निकलता है कि उनकी पूजा करना चाहिये। प्रत्युत

पृ० २७९ पर पांडेजी द्वारा दिये गये यशस्तिलक के श्लोक का यह अर्थ होता है कि जो चतुर्णिकाय (क्षेत्रपाल पद्मावती यक्षादि) देवों को जिनेन्द्र भगवान के समान ही पूजादि विधान में देखता है वह नर्कगामी होता है। यथा—

देवजगत्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥

पांडेजी ने लिखा है कि 'श्रीपाल की रानी का जब धवल सेठ द्वारा सतीत्व हरण किया जाने वाला था तब कई देवों ने रक्षा की थी'। यह सब ठीक है, मगर उन कुदेवों की रानी ने पूजा नहीं की थी, वे तो सती के प्रभाव से कंपित आसन होकर उसकी सेवा में उपस्थित हुये थे। इसी प्रकार पांडे जी के ऊट-पटांग श्लोकों का उत्तर मामूली आदमी भी दे सकता है।

## मांसाहारी देव !

जबकि जैनसिद्धान्त देवों के मांसाहारादिका पूर्ण निषेधक है तब पांडेजी ने चर्चासागर के पृष्ठ २८१ पर लिखा है कि "विश्वेश्वरादिक के सिवाय मांसाहारी क्रूर देव और भी हैं !" इसके लिये आदिपुराण का एक श्लोक प्रमाण में दिया गया है। परन्तु पांडेजी ने उसके अर्थ करने में भूल की है। वास्तव में तो उसका यह भाव है कि अन्य मतियों ने जिनकी वृत्ति मांस द्वारा कल्पित की है ऐसे देवता शान्ति के कारण नहीं हैं। अतः त्याज्य हैं। मगर पांडे जी ने नासमझी से सीधा यों ही लिख दिया है कि 'मांसाहारी क्रूर देव और भी हैं !' पं० मक्खनलाल जी ने पांडे चम्पालाल की लाज रखने के लिये ६ पृष्ठ काले किये हैं ! मगर मैं पूछता हूँ कि इस प्रकार आप कहां तक पर्दा डालेंगे ? पांडेजी ने तो ऐसी अनेक सैद्धांतिक भूलें की हैं, जो कि जैनमित्र

में प्रगट हो चुकी हैं। क्या पं० मक्खनलाल जी के पास उनका भी कुछ समाधान है? पाडे चम्पालाल जी को संस्कृतका विशेष ज्ञान नहीं था। उन्हें तो मात्र कषाय पुष्टि के लिये पंथीय पक्ष में आकर ग्रंथकर्ता बनने की अभिलाषा थी। अतः वे अपनी हविस पूरी कर गये हैं।

अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १६० पर रजस्वला के प्रकरण में तो स्वयं पं० मक्खनलाल जी ने भी स्वीकार किया है कि "चम्पालालजी ने जो अर्थ किया है वह उनका अर्थ गलत है! शास्त्र का प्रमाण देते हुये भी वे उसका अर्थ करने में चूके हैं!" इत्यादि। जिस प्रकार पंडित जी ने इस प्रकरण में पांडे जी की भूल स्वीकार की है, उसी प्रकार देवों के मांसाहार करने में क्यों नहीं भूल स्वीकार कर लेते? सच बात तो यह है कि यहांपर आप अपनी चालों से बचाव कर सकते थे, मगर रजस्वला के प्रकरण में श्वास लेने को भी स्थान नहीं रहा, इसलिये भूल कबूल करनी पड़ी! पण्डितजी मानें या न मानें परन्तु विवेकी समाज पांडेजी की थोथी विद्वत्ता और उनके असदुद्देश्य से खूब परिचित हो गई है!

पाडेजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार "भयाशास्नेह लोभाच्च" आदि श्लोक देते हुये पृ० २८४ पर लिखा है कि यहाँ पर सम्यग्दृष्टि देवों का निषेध नहीं किया है, कुदेवों का निषेध किया है।" इत्यादि।

पाडेजी की इस अज्ञानता पर बड़ा दुःख होता है। क्या वे काली महाकाली और भवनत्रिक के सब देवों को सम्यग्दृष्टि मानते हैं? यदि नहीं तो इन्हें सम्यग्दृष्टि क्यों नमस्कारादि करेगा? दूसरे-श्लोक में मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि का कोई उल्लेख नहीं है। स्वामी समन्तभद्रादि आचार्यों ने तो वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी को ही देव माना है। तब क्या पांडे जी

के भैरों भवानी और क्षेत्रपाल पद्मावती आदि में सत्यार्थ देव का यह लक्षण मिलता है ? यदि नहीं तो उन्हें मानना पूजना पापवन्ध का कारण क्यों नहीं होगा। पृ० २८५ पर पांडेजी ने फिर वही बात लिखी है कि "दूसरों के द्वारा स्थापन किये गये क्षेत्रपाल चण्डी भैरव आदि नहीं मानना चाहिये"। इस अज्ञान और पक्षपात का भी कोई ठिकाना है ? इसका मतलब तो यही हुआ कि दूसरों के द्वारा खोदे गये कुंयें में नहीं गिरना चाहिये, किन्तु अपने खोदे हुये कुंये में डूब मरना चाहिये !

परस्पर विरोध—आगे चलकर पृष्ठ २८६ पर पांडेजी ने लिखा है कि "अठारह दोष रहित, छयालीसगुण सहित, वीतराग सर्वज्ञ देव ही पूज्य हैं। अन्यमत के भैरव क्षेत्रपालादिक नहीं। सम्यग्दृष्टि के भगवान अरहंतदेव ही सदा पूज्य होते हैं।" यहां पर 'अरहंत देवही' से स्पष्ट सिद्ध है कि क्षेत्रपालादि की पूजा नहीं की जा सकती। यह परस्पर का विरोध और पांडेजी का उन्मत्त प्रलाप देखकर बड़ा आश्चर्य होता है !

## शूद्रों को पूजा का अधिकार !

चर्चा १७२ पृ० २८७—में पांडेजी ने पूजा के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्ण वाले बतलाये हैं। यह देखकर भाषान्तरकार पं० लालारामजी घवड़ा गये हैं। और नीचे दो नोट लगा दिये हैं कि "जिनमें विधवा विवाह नहीं होते, ऐसे शूद्र ही दूर से पूजा कर सकते हैं। उन्हें अभिषेक, चरणस्पर्श आदि करने का अधिकार नहीं हैं, वे अन्य वर्णों के साथ खड़े होकर भी पूजा नहीं कर सकते।" इत्यादि।

पहिले तो मैं पण्डितजी से यह पूछता हूँ कि विधवा विवाह जिनके कुल में होता है वे पूजा नहीं कर सकते, तो वतलाइये कि आचार्य शान्तिसागरजी के कुल में और चतुर्थ जैनों में विधवाविवाह होनेपर भी वे पूजा करते हैं, तो क्या वे सब पूजा करने से पापके भागी होंगे ?

दूसरे—आपने यह अर्थ कहाँ से निकाल लिया कि शूद्रों को दूर से ही पूजा करना चाहिये ? पाडे जी का तो यह तात्पर्य मालूम नहीं होता है। कारण कि उन्होंने पंचोपचारी पूजा के अधिकारी चारों वर्ण के मनुष्य गिनाये हैं और पूजा अभिषेक के विना हो नहीं सकती। तथा पाडे जी के मन्तव्यानुसार भगवान के चरणों पर चन्दन लगा कर और फिर उसे छुटा कर तिलक किये विना भी पूजा नहीं हो सकती। तव तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पाडे जी शूद्रों से भी प्रतिमा स्पर्श कराने के पक्षपाती थे। पाडेजीने एक जगह चारों वर्णों को पूजाका अधिकारी वतलाकर फिर ठीक उसके वाद तीन वर्णों को पूजा करना लिखा है यह उनकी विस्मरणशीलता और परस्पर विरोधी कथन का नमूना है। ऐसे विरोधी कथन तो चर्चासागर में भरे पड़े हैं।

## पूजक का विचित्र लक्षण।

चर्चा नं० १७३ पृ० २८८—में पूजक के गुणों का वर्णन करते हुये वतलाया है कि "उसे साहसी नहीं होना चाहिये! रूपवान होना चाहिये, वदसूरत न हो, मुंह वुरा दिखने वाला न हो, उसे ही पूजा करने का अधिकार है"।

"यदि ऐसे गुणों से रहित कोई व्यक्ति अति तीव्र भाव होकर पूजा करता है तो उस पुरुष का, उस देश का, उस देश होने पर भक्ति के वश के राजा का, और सम्पूर्ण साम्राज्य का विनाश हो जाता है!!! (पृ० २९०)

पाठकगण! आप विचार सकते हैं कि सभी गोरे, सुन्दर या रुपवान कहा से हो सकते हैं? और ऐसे गुण रहित द्वारा पूजा की जाने मे सत्यानाश कैसे होजायगा? क्या काले एवं असुन्दर मनुष्य द्वारा भक्ति भाव से की गई जिन भगवान की पूजा से देश, धर्म और राजपाट आदि का विनाश हो सकता है? धन्य है इस विज्ञानको!

आगे चलकर पृष्ठ २८९ पर तो पांडे जी ने पुजारी के लिये और भी कई विचित्र कानून लिखे हैं। यथा-जिनसंहिता का जो ज्ञाता नहीं हो वह पूजा नहीं कर सकता। इसमें प्रमाण दिया है जिन संहिता का! यह अपनी जाली पुस्तक के प्रचार करने का एक तरीका है। चर्चासागर भक्तों को बताना चाहिये कि समाज में कितने संहिताशास्त्र के ज्ञाता होंगे? जो लोग वर्तमान संहिताशास्त्र के ज्ञाता न होकर शुद्ध भावों से पूजा करते हैं क्या वे सब पाप भागी होंगे?

## प्रायश्चित्त प्रकरण।

चर्चासागर में पांडे चम्पालाल जी ने प्रायश्चित की जो व्यवस्था की है वह शिथिलाचार, अनाचार, अधर्म और हत्याकाड एवं व्यभिचार आदि की पोषक है। कारण कि ऐसे अनर्थों को करने वालों की शुद्धि मात्र कुछ ही उपवास करके बतला दी गई है। इन बातों का कोई विरोध न कर सके इस लिये पण्डित मक्खनलालजी ने अपने ट्रैक्ट के पृ० १४४ पर लिखा है कि-"प्रायश्चित्त ग्रन्थों के पढ़ने पढ़ाने का गृहस्थों को न तो अधिकार है और न उन प्रायश्चितों की न्यूनाधिकता के सम्बन्ध में समालोचना करने का ही उन्हें अधिकार है ........। उस विषय में गृहस्थों का कुछ भी विचार करना सर्वथा अनुचित एवं अनधिकार है।"

पण्डितजी के इस 'परोपदेशे पाडित्यं' पर पाठकों को हँसी आयेगी, कारण कि ऐसी आज्ञा देकर प्रायश्चित के विषय में पण्डितजी महाराज ने स्वयं गृहस्थ होते हुए भी अपने ट्रैक्ट के १८ पृष्ठों में विचार किया है। मैं पं० मक्खनलाल जी से पूछता हूं कि आप मुनि हैं या गृहस्थ हैं अथवा कुछ और ही हैं? यदि आप मुनि हैं तो प्रायश्चित सम्बन्धी १६ पृष्ठ काले करने का और उनमें अनेक प्रायश्चित्त ग्रन्थ देखकर प्रमाण देने का जो पाप किया है उसका आपने क्या प्रायश्चित्त लिया? क्या आपने यह अनुचित और अनधिकार काम नहीं किया है? इसके अतिरिक्त पांडे चम्पालाल (गृहस्थ) ने भी चर्चासागर के ३३ पृष्ठ इसी विषय में भरे हैं। तब विचारिये कि वे इस पाप के कारण किस गति में गये होंगे?

पांडेजी के प्रायश्चित्त विधान में गृहस्थों को गौदान करके पाप से पिण्ड छुड़ाने का एक तरीका बताया गया है। उसमें प्रमाण दिया गया है किसी जाली ग्रंथ अकलङ्क देवकृत (!) श्रावक प्रायश्चित्त का! पाठकों को मालूम होना चाहिये कि भगवान अकलङ्क देव का बनाया हुआ यह ग्रन्थ नहीं है। पांडेजी चर्चासागर के पृष्ठ ३१२-१३ पर लिखते हैं कि—

"गौरेका च प्रदीयते, द्विगावो कलशस्नानं, गावः तिस्र उदाहृताः, द्वौ गावौ, द्विगावौ भुक्तिदानानि, मोकला गौर्हि एका स्यात्, द्वौ च गावौ भुक्तिशतद्वयम्, गौरेकात्र प्रदीयते, गौरेकाहारदानानि, धेनुरेका प्रदीयते।"

इसमें गृहस्थ को प्रायश्चित्त के लिये गौदान करने का जोरों से विधान किया गया है। इससे पांडेजी की मनोवृत्ति का पता स्पष्टता से लगाया जा सकता है। न जाने पांडेजी कहां से उत्पन्न हुये और किस वातावरण में पले थे!

आश्चर्य तो यह है कि सिद्धान्त शास्त्रीयता का दावा

रखने वाले और अनेक पदवियों से युक्त पं० मक्खनलाल जी इसको सर्वज्ञवाणी मानते हैं।

## प्रायश्चित्त की विचित्र व्यवस्था।

पांडेजी के प्रायश्चित्त विधान की विचित्रता को देखकर तो शरम से मस्तक नीचा कर लेना पड़ता है। उसके कुछ नमूने चर्चासागर की पृष्ठ संख्या सहित नीचे दिये जाते हैं:—

१—यदि श्रावक २० तोला तक मांस खा लेवे तो ३ उपवास और किसी नीच जाति के घर भोजन करले तो ३० उपवास तथा विजातीयके घर भोजन करले तो ९ उपवास करना चाहिये ( पृ० २९७-९८ ) अर्थात् मांस खाने की अपेक्षा विजातीय ब्राह्मणादि के यहा भोजन करना तीन गुना और नीच के यहां दस गुना अधिक पाप है! इसके अतिरिक्त २० तोला तक मांस खाने की व्यवस्था भी बड़ी ही विचित्र है। चर्चासागर में उस श्लोक के 'पलपंचकम्' का अर्थ पं० लालारामजी ने पलट कर पंचोदम्बर कर दिया है। मगर त्रिवर्णाचार के ( जिससे यह श्लोक उद्धृत किया है) पृ० २७२ पर इसका अर्थ २० तोला मांस खाना ही लिखा है।

२—किसी के घर का आदमी सवारी से गिर कर मर जाय तो घरवालों को ५० उपवास और अग्नि में पड़कर मरे तो ५५ उपवास करना चाहिये ( पृ० २९९ )। देखा, यदि अकस्मात् कोई गिरकर मर जाय तो घर वालों को भी पचासों उपवास करके अपने प्राण देकर शुद्ध होना चाहिये!

३—किसी स्त्री का चांडाल से संसर्ग ( व्यभिचार ) हो जाय तो ५० उपवास और माली से हो जाय तो ५ उपवास करना चाहिये ( २९९ ) तथा जाति के २० पुरुषों को भोजन कराना चाहिये, तब वह शुद्ध और पंक्तिमें वैठने योग्य होजाता

है (पृ० ३००)। कुछ पंडितराज संसर्ग का अर्थ स्पर्श कराना भी कह सकते हैं। मगर जिसको विवेक होगा वह स्पष्ट कह देगा कि चाण्डाल के स्पर्श से ५० उपवास का दण्ड नहीं हो सकता है। इसलिये यहांपर संसर्ग का मतलब व्यभिचार ही है। दूसरे वात यह है कि मूल हस्तलिखित प्रति में तो संसर्ग का अर्थ स्पष्ट व्यभिचार ही लिखा है।

पाठको ! तनिक विचार करने की वात है कि स्त्री संसर्ग में जाति का भेद होने से दस गुना अन्तर कैसे होजाता होगा ? व्यभिचार तो व्यभिचार ही है। चाहे चाण्डाल से किया हो या माली से ? इसके अतिरिक्त जैन के साथ संसर्ग होने का कोई प्रायश्चित्त ही नहीं वतलाया और माली का खास उल्लेख किया है। कारण कि मंदिरों में स्त्रियां दर्शनों को नित्य जाती हैं और वहां माली रहते हैं। न जाने पाडेजी का इसमें क्या रहस्य था ! यहां पर श्राविका को व्यभिचारशुद्धि के लिये तो ५०-५० उपवास वतलाये हैं, मगर आर्यिका व मुनि के व्यभिचार होने पर मात्र पंच कल्याणक विधिही वताई है ( देखो चर्चासागर पृ० ३२० )

## दस्साओं की शुद्धि !

इसके अतिरिक्त चाडाल माली आदि से व्यभिचार कर लेने पर श्राविकाको प्रायश्चित्त लेने के वाद पांडे जी ने शुद्ध और पंक्ति में वैठने योग्य वतलाया है। तव तो विनैकावारों ( दस्सा-लुहरीसैन ) को शुद्ध करने में कोई वाधा नहीं होना चाहिये। अभी तो पुरुष ही अमुक दण्ड देकर जाति में मिलाये जाते हैं मगर पांडे जी की व्यवस्थानुसार तो पतित व्यभिचारिणी स्त्रियां भी मिलाई जा सकती हैं। पं० मक्खनलाल जी और उनकी पार्टी जव चर्चासागर को प्रमाण मानती है तव क्या वह

व्यभिचारिणी स्त्रियों को शुद्ध करने की यह बात भी मानते हैं या नहीं? यदि पंडितजीमें सत्य और निर्भीकता का अंश हो तो उन्हे यह स्पष्ट प्रगट करना चाहिये।

## सूतक में पूजा विधान।

पांडेजी ने पृ० ३०० पर लिखा है कि "जन्म सूतक और मृत्यु सूतक में ५ उपवास, ११ एकाशन, पात्रदान और केशर चन्दन आदि द्रव्यों से भगवान की पूजन करनी चाहिये! इतना प्रायश्चित्त करलेने पर उसका वह सूतक दूर होता है!"

इससे सिद्ध है कि सूतक दूर होने के पहिले भगवान को स्पर्श करके चन्दन केशर लगाना चाहिये और पूजा करनी चाहिये! कारण कि "इतना करलेने पर वह सूतक दूर होता है"। यह वाक्य बतलाता है कि सूतक दूर होने के पहिले पूजा करनी चाहिये। किन्तु जैन शास्त्रों का कथन है कि सूतक पूरा होने पर पूजा करना चाहिये। अब गोबर पंथियों को स्पष्ट लिखना चाहिये कि उन्हें पांडे जी का यह भ्रष्ट मार्ग पसन्द है या जैन मार्ग?

## गर्भपात!

पृ० ३०१ पर पांडे जी ने गर्भपात कराने का प्रायश्चित्त भी १२ उपवास बताये हैं। हालां कि पांडे जी ने "अपनी स्त्री के गर्भपात से उत्पन्न पाप के होने पर" १२ उपवास आदि प्रायश्चित्त लिखा है किन्तु यहां पर "अपनी स्त्री" भाषान्तरकार ने जोड़ दिया है, कारण कि न तो "अपनी" शब्द हस्तलिखित प्रति में है और न श्लोक में (गर्भस्य पातने) ही है। वहां तो मात्र "गर्भपात कराने से" ऐसा अर्थ है! दूसरी बात यह है कि सूतक विधान में भी अपनी स्त्री के गर्भपात हो जाने पर पिता को १ दिन का ही सूतक लगता है। यह पांडे जी और गोबर-

पंथियों के आगम शास्त्र त्रिवर्णाचार के पृष्ठ ३७२ पर लिखा है कि—

पाते मातुर्यथामासं तावदेव दिनं भवेत् ।

सूतकं तु सपिण्डानां पितुश्चैक दिनं भवेत् ॥ ८५ ॥

यहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि जितने दिन का गर्भपात हो उतने दिन का माता को और पिता को एक दिन का सूतक लगता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि (गर्भस्य पातने पापे) से पांडे जी का मतलब परस्त्री का गर्भपात कराने से था; अन्यथा अपनी स्त्री का गर्भपात हो जाना पाप नहीं कहा जाता है। तब क्या गोबर पन्थी और उनके गुरु पं० मक्खनलाल जी आदि इस गर्भपात कराने के प्रायश्चित को प्रमाण मानेंगे या नहीं? सो स्पष्ट घोषित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त श्रावक के द्वारा यदि पंचेन्द्रिय पशु मर जाय तो उपवास के अतिरिक्त गौदान करे; और जलचर थलचर, बिल्ली, कुत्ता मरे तो गौदान; गाय, घोड़ा. भैंस, बकरी मरे तो गौदान; मनुष्य मनुष्य को मार डाले तो भी उपवासों के अतिरिक्त गौदान करना चाहिये (३०१–३०२)। मतलब यह है कि 'गौदानं पदे पदे'।

यह प्रायश्चित्त संबंधी प्रायः सभी श्लोक उसी भ्रष्टाचार प्रवर्तक त्रिवर्णाचार से उठाकर रखे गये हैं। मगर समाज को धोखा देने के लिये ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा और लिख दिया कि 'सो ही लिखा है'। इस धोखेबाजी का भी कोई ठिकाना है? यदि सच पूछा जाय तो चर्चासागर में अधिकांश त्रिवर्णाचार ही भरा पड़ा है, मगर पं० मक्खनलालजी इसे साफ़ ही उड़ा गये हैं और अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १५–१६ में अनेक आचार्यों

और ग्रन्थों के प्रमाण गिनाते हुए भी त्रिवर्णाचार के नाम को साफ़ उड़ा गये हैं।

## मुनियों का प्रायश्चित्त।

श्रावकों की भांति मुनियों का भी प्रायश्चित्त विधान बड़ा ही विचित्र किया गया है। यह प्रकरण पृष्ठ ३१७ से ३२९ तक पूर्ण किया है। इसमें बतलाया गया है कि यदि नि क्रोध में आकर मुनि को मार डाले, श्रावक बालक स्त्री और गाय को मार डाले तथा ब्राह्मण क्षत्री वैश्य या शूद्र के प्राण लेले तो भी ऐसा हत्यारा-पापी मुनि मात्र कुछ बेला तेला उपवास करके ही शुद्ध हो जाता है! वह मुनिपद से भ्रष्ट नहीं होता! इतना याद रहे कि मुनियों को उपवास करने के लिये अन्न-त्याग भी नहीं करना पड़ता है। उनके उपवास का मतलब तो १०८ वार णमोकार मन्त्र पढ़ने का है। यथा—"१०८ णमोकार का एक जप होता है। एक जप का फल एक उपवास है। यहां उपवास शब्द का अर्थ यही है (पृ० ३१५)।

पं० मक्खनलाल जी ने अपने ट्रैक्ट के १४४ से १६० पृष्ठ इसीलिये हत्याकाण्ड आदि के समर्थन में भर डाले हैं और इधर उधर से प्रमाण लाकर रख दिये हैं। मगर उन्हीं के द्वारा दिये गये प्रमाणों में यह वाक्य हैं कि—"पुनर्दीक्षाग्रहोमूलं" "मुक्तचारित्रभाराः जिनधर्मबाह्याः न वंदनीयाः" पुनर्दीक्षादानं" अर्थात् ऐसे भ्रष्ट मुनियों को जिनधर्म से बाह्य समझ कर वन्दन नहीं करना चाहिये। किन्तु फिर से दीक्षा देना चाहिये। समझ में नहीं आता कि पण्डितजी अपने लम्बे २ श्लोक और गद्य देकर क्या सिद्ध करना चाहते हैं!

चर्चासागर में तो इसी प्रकार मुनियों के द्वारा चोरी करने पर, तिर्यंच, देवी, मनुष्य या आर्यिका से भी एक बार

व्यभिचार करने पर (३२०) तथा झूठ और परिग्रह का पाप करने पर और २८ मूलगुणों का एक वार सर्वथा भंग करने पर पंचकल्याणक ( उपवास विधि ) करने से शुद्धि होजाती है !

पाठको ! आप विचार कर सकते हैं कि यह कितना शिथिलाचार और पाप को पुष्ट करने वाला विधान है? **मुनि आर्यिका से एकवार व्यभिचार करके भी मुनि बना रह सकता है !!!** आश्चर्य है कि पं० मक्खनलालजी इसके भी समर्थक हैं और आचार्य शांतिसागर जी के संघ में **ऐसे भ्रष्ट ग्रन्थ का मुफ्त प्रचार किया जाता है !** आर्यिका की वात तो दूर रही, मगर उसमें तो वैक्रियक शरीरधारी देवांगना से मुनि द्वारा मैथुन करने की वात लिखी है ! औदारिक शरीरधारी किसी वैक्रियक शरीरधारी देवाङ्गना से व्यभिचार कर सके यह वात जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है । किन्तु पांडे चम्पालालजी के शास्त्रीय ज्ञान का यह एक नमूना है । क्या विद्यावारिधि जी (!) इसे भी अपने न्याय के वल से सिद्ध कर सकते हैं । अच्छा है भाई ! करने दो, धर्मात्मा के वेष में और पंडिताई के नाम पर जितना अनाचार फैलाया जासके उतना फैलाने दो ! जैन समाज का तो भविष्य ही खराव है ! तदनुसार निमित्त मिल रहे हैं !

व्यभिचारी मुनिका प्रायश्चित्त—चर्चासागर पृष्ठ ३२० पर लिखा है कि "यदि कोई मुनि किसी आर्यिका से एक वार मैथुन करे तो उसका प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण सहित पंचकल्याणक (!) है !" । यह लघुप्रायश्चित्त और ऐसा भयंकर पाप देख कर किसे आश्चर्य नहीं होगा? असल में वात यह है कि पांडेजी ने मुनियों पर जितनी दया खाई है उससे भी अधिक संभवतः भाषान्तरकार पं० लालाराम जी ने दया की है । कारण कि हस्त-

लिखित प्रति में आर्यिका से एक वार भी व्यभिचार करने पर पंचकल्याणक ही नहीं किन्तु पुनर्दीक्षा का स्पष्ट विधान है। यथा—

"वहुरि आर्यिका जो से महाव्रती मैथुन एक वेरि करै तो प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण सहित पंचकल्याणक लेवे, फेर दीक्षा लेवै नवे सरमै। बहुरि वहुवार मैथुन करै तो महाव्रत भंग होय।" (पृष्ठ २१७)

यहां पर एकवार मैथुन करने पर भी पुनर्दीक्षा लेना वताया है। मगर छपे हुये चर्चासागर में यह बात उड़ाही दी गई है! इसमें किसकी करामात है सो सर्वज्ञ जाने!

**अखण्ड मूलगुण**—चर्चासागर के इस प्रायश्चित विधान में मुनियों के प्राण स्वरूप २८ मूलगुणों के क्रमशः भंग करने का वर्णन करते हुये एक एक वार की सर्वत्र माफ़ी दी गई है। अर्थात एक वार भंग करने पर मूलगुण नष्ट नहीं होते। कोई २ मूलगुण तो अनेक वार भंग होने पर भी सदा बने रहते हैं! यथा—

पृष्ठ ३२१—मुनि रात को एक वार भोजन पान करे तो तीन उपवास अर्थात् ३ वार णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिये (उपवास का अर्थ पांडे जी ने १०८ वार णमोकार मंत्र पढ़ना वताया है)।

पृष्ठ ३२३—अपने हाथ से मुनि भोजन बना कर खावे तो प्रायश्चित्त एक उपवास (जाप करलेना), यह भी मज़े का प्रायश्चित है!

पृ० ३२४—मुनि हरितकाय पर वार वार मल मूत्र निक्षेपण करें तो भी प्रायश्चित्त एक उपवास है अर्थात् प्रतिष्ठापना समिति तो सदा अखण्ड ही बनी रहती है!

पृ० ३२५—यदि मुनि दर्प और अहंकार से वस्त्र ओढ़ ले तो पंच कल्याणक, यदि अन्य कारण से ओढ़ले तो महाव्रत भंग हो जाय ! समझ में नहीं आता कि अहंकारवश जानवूझ कर वस्त्र ओढ़ने पर तो व्रत भंग नहीं होगा, फिर वह और कौनसा कारण है कि जिससे व्रत भंग होगा ?

पृ० ३२५—मुनि दिन में दो वार भोजन करें तो भी प्रायश्चित्त पंचकल्याणक ! फिर क्या पूछना ? मौज हो जायगी।

पृ० ३२७—यदि मुनि लुक छिप कर भोजन करले तो कमती प्रायश्चित्त लेना होता है, और यदि कोई देख ले तो अधिक ! मानों पाप का वंध देखने और न देखने पर आधार रखता है।

पृ० ३२८—मुनिका कमंडलु जितने अंगुल फूटे, उतने ही उपवास करे ! यह भी एक विचित्रता ही है ! ऐसे ही अनेक वेढंगे प्रायश्चित्त-विधान वताये हैं।

## आर्यिका का प्रायश्चित्त !

चर्चा १८६ पृ० ३२६—में पांडे जी ने लिखा है कि "जो पहिले मुनियों के प्रायश्चित्त का वर्णन किया है उसी प्रकार आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त समझना चाहिये। उसमें विशेष केवल इतना ही है कि आर्यिका को त्रिकाल योग का धारण तथा सूर्यप्रतिमा योग धारण ये दो योग धारण नहीं करना चाहियें। वाकी सव प्रायश्चित्त मुनियों के समान है। इसके प्रमाण में पांडे जी ने एक गाथा भी दी है कि—

सह समणाणं भणियं समणीणं तहय होइ मलहरणं।
वज्जिय तियाल जोग्गं दिण पडिमं छेदमालच ॥

यहाँ पर पाडे जी ने त्रिकाल योग और प्रतिमा योग का

तो आर्यिका को वर्जन बतलाया है, मगर आप 'छेदमालंच' का अर्थ साफ उड़ा गये हैं। इससे पांडेजी यह मतलब निकालना चाहते थे कि आर्यिकाओं को भी व्यभिचार करलेने पर उपवासादि से पुनः शुद्ध किया जा सकता है! पं० लालाराम जी भी इस विषय में चुप रहे हैं! उनने भी छेदमालं के गोलमाल पर कोई विचार नहीं किया और न नोट ही लगाया। किंतु जहां युवकसंघों की बुराई, विजातीय विवाह का विरोध, सावद्यपूजा का समर्थन आदि करना था वहां लम्बे २ नोट लगाये हैं!

वास्तव में आर्यिकाओं के छेद प्रायश्चित्त नहीं होता है, इसी लिये उक्त गाथा में 'छेदमालं' पद दिया गया है। प्रायश्चित्त चूलिका के पृ० २०१ पर भी आर्यिका को प्रायश्चित्त से रहित लिखा है। यथा—

> अब्रह्मसंयुता क्षिप्रमपनेयाऽपि देशतः।
> सा विशुद्धिर्वहिर्भूता कुलधर्मविनाशिका ॥१२४॥

अर्थात्—मैथुन सेवन करने वाली आर्यिका को शीघ्र ही देश से बाहर निकाल देना चाहिये। व्यभिचारिणी आर्यिका की कोई भी प्रायश्चित्त या शुद्धि नहीं हो सकती। वह गुरुकुल और धर्म को नाश करने वाली है।

ऐसी आज्ञा होते हुये तथा चर्चासागर की गाथा में आर्यिका को छेद पिण्ड से रहित बताने पर भी पांडे जी ने आर्यिका को भी उपवास आदि करके व्यभिचार दोष से छूटना बता दिया है। सच बात तो यह है कि पांडे जी शिथिलाचार के कट्टर पोषक थे। चर्चासागर के पृ० ४७२ पर भी पांडेजी ने लिखा है कि "सो आर्जिका तो छेदोपस्थापना प्रायश्चित लेकर तपोवन को चली गई" किन्तु पृ० ३२९ की गाथा में 'छेदमालं'

और 'साविशुद्धिवहिर्भूता' का क्या मतलब है? इस पर विचार करना चाहिये।

## गौदान-भूमिदान-सुवर्णदान !

जैन शास्त्रों ने जिन्हे कुदान कहा है, जिनसे नरकादि दुर्गतियों का बंध बताया है और जिन्हें पाप का कारण कहा है उन ही कुदानों का समर्थन पांडे चम्पालाल ने अपने चर्चासागर में पृ० ३०५ से ३१४ तक खूब किया है। बात २ में गौदान ब्राह्मण को देने का विधान किया है। यह कुदान का वर्णन प्रायः योनिपूजक त्रिवर्णाचार से लिया गया है जो कि उसके पृ० १८० से प्रारंभ किया गया है और पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार ने अपने ट्रैक्ट के १४ पृष्ठ इन्हीं कुदानों को शास्त्रसिद्ध करने के लिये काले किये हैं! इनकी सिद्धि में आप अपने हठवादी सिद्धान्तों को भी भूल गये हैं। यथा-

## विजातीय विवाह का समर्थन !

ब्राह्मणों को गौदान देने की सिद्धि करते समय पण्डित जी को अपने पक्ष का भी ख्याल नहीं रहा। और आप अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १३२ पर पांडे जी के वचनों का समर्थन करते हुये लिखते हैं कि "जघन्य पात्रों (ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न हुये) को ऊपर लिखे (कन्या हस्ति सुवर्ण ... ...) दश प्रकार के दान देने चाहियें!" अर्थात् एक जैन गृहस्थ गौदान की भाँति अपनी कन्या आदि का भी ब्राहण को दान करे! इससे तो पं० मक्खन लाल जी विजातीय विवाह का समर्थन कर गये हैं! क्या किया जाय? गौदान के पचड़े में इसका ख्याल कहां से आता? अस्तु।

पण्डितजी ने गौदान के प्रकरण में १०-१२ श्लोक इधर उधर के दिये हैं। मगर किसी भी श्लोक में गौदान करने की

स्पष्ट आज्ञा नहीं है ! पंडित जी ने कई जगह यह लिखा है कि गौदान आदि सम्यग्दृष्टि, सधर्मी और सवर्णी ब्राहण को देना चाहिये। मगर आपके आगम ग्रंथ (!) चर्चासागर के पृ० ३०७ पर लिखा है कि मंदिरों में रहने वाले भट्टादिकों को हाथीदान देना भी निष्फल नहीं है ! क्या पंडित जी महाराज उन भट्टों, मालियों और पंडों को भी सम्यग्दृष्टि और साधर्मी मानते हैं ? पं० जी अर्थ को उलट पुलट करके भले ही जनता को भ्रम में डालें या गौदान सिद्ध हुआ समझकर आत्मसंतोष करलें, मगर जैन शास्त्रों में तो इसे घोर पाप का कारण बतलाया है। इसके लिये कुछ आचार्यों के प्रमाण देखिये---

## गौदान से नरक गमन !

*गोभूकन्याहिरण्यादिदानानि विषयातुरः।*
*पापबन्धनिमित्तानि विप्रः प्रज्ञाप्य सोवनौ ॥१३॥*
*मोहयित्वा जडं लोकं राजलोकपुरोगमं।*
*प्रवृत्तः पापवृत्तेषु सप्तमीं पृथिवीमितः ॥१४॥*

*—हरिवंशपुराण, सर्ग ६०।*

भावार्थ—विप्र मुण्डलशायनने राजा प्रजा सर्व जनता को पापबंध का कारणभूत गौदान, पृथ्वीदान आदि करना सिखाया। जिससे पापवृत्तियों में प्रवृत्त होकर वह सातवें नरक में गया ! इसके अतिरिक्त अमितगति श्रावकाचार में श्री अमितगति आचार्य ने भी कई जगह गौदान आदि को पापबंध का कारण बतलाया है। यथा—

*ता गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥ ९–५४ ॥*

अर्थात्—गाय के दान देने से रञ्चमात्र भी पुण्य नहीं है। तथा—

दीयते गृह्यते सा गौः कथं दुर्गतिगामिभिः ॥९–५५॥

अर्थात्—दुर्गतिगामी पुरुष गौदान क्यों कर करते होंगे और लेनेवाले कैसे लेते होंगे? तात्पर्य यह है कि गौदान दुर्गति का कारण है।

जीवित गायकी तो बात ही दूर रही, मगर आचार्य अमितगति ने तो तिल, घी, सोना, चांदी आदि की बनी हुई गाय का देना और फिर उसे बेचकर खाना चांडाल कर्म से भी बुरा बतलाया है। यथा—

*तिलधेनुं घृतधेनुं कांचनधेनुं च रुक्मधेनुं च।*
*परिकल्प्य भक्षयंतश्चांडालेभ्यस्तरा पापाः ॥९–५६॥*

इसके अतिरिक्त आचार्यवर्य देवसेनसूरि ने "भावसंग्रह" ग्रंथ के विपरीत मिथ्यात्व प्रकरण में और संस्कृत भावसंग्रह में श्लोक ८९ से ९२ तक गौ की मान्यता को घोर मिथ्यात्व बतलाया है। तथा सामान्य पशुओं से गायको कोई विशेष महत्व ही नहीं दिया गया है। फिर भी न जाने विद्यावारिधि जी के ज्ञान में यह बात क्यों नहीं आरही है! सच बात तो यह है कि जब न्यायालंकार जी के न्याय में गोबर से जिनेन्द्र भगवान की आरती और गोमूत्र से अभिषेक करना अन्याय नहीं है तब गौदान की बुराई तो उनकी दृष्टि में आ ही कैसे सकती है?

## धोखे में डालने का प्रयत्न!

पं० मक्खनलाल जी ने अपनी बात की सिद्धि के लिये समाज को धोखे में डालने का कई जगह प्रयास किया है। जब

आपको गौदान का कोई प्रमाण नहीं मिला तब इधर उधर के श्लोक रखकर उनमें गौदान न होने पर भी गौदान बतलाने लगे। पंडितजी की इस चतुराई का नमूना देखिये। आप अपने ट्रैक्ट के पृष्ठ १४२ पर बड़े २ अक्षरों में लिखते हैं कि "गौदानादि के लिये और भी प्रमाण"। इस हैडिंग के नीचे दो प्रमाण चारित्रसार के और एक धर्मसंग्रह श्रावकाचार का दिया है। मगर इनमें गौ शब्द या इसका वाचक भी कोई शब्द नहीं है; जैसे "चैत्य-चैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति"। जिसे तनिक भी संस्कृत का ज्ञान होगा वह कह सकेगा कि इसमें गौदान की गंध भी नहीं है। मगर असंस्कृतज्ञों को धोखे में डालने का यह एक तरीका है। यदि पंडित जी अपने न्याय से 'क्षेत्रादीनां' के आदि पद के बलपर गौदान निकालना चाहें तो मैं पूछता हूँ कि उस आदि पदसे भैंसदान, बकरीदान आदि भी क्यों नहीं लिया जा सकता है?

चर्चासागर के गौदान का समर्थन करते हुये पंडित जी पृ० १४० पर लिखते हैं कि पंचामृत अभिषेक के लिये दूध की आवश्यक्ता होती है, इसलिये मंदिर में गौदान करना चाहिये! मैं विद्यावारिधिजी से पूछताहूँ कि यदि प्रत्येक आवश्यक्ताके लिये मन्दिर में दान होने लगे तब तो मन्दिर में दूध के लिये गौशाला बनवानी होगी। सोने चांदी की चीज़ें बनाने के लिये सराफ़े की दुकान भी मंदिर में खोलनी होगी। कपड़े आदि के लिये मंदिर में बजाजी कराना होगी। चूना मिट्टी के लिये एक कार-ख़ाना बनाना होगा। और मैं कह नहीं सकता कि क्या क्या करना होगा! तब तो दिगम्बर जैन मन्दिर क्या एक ख़ासा व्यापारिक विश्वमन्दिर बन जायगा! अच्छा है पंडित जी महाराज! जो कुछ बन सके सो करिये। अभी तो जैनधर्म के नष्ट होने में बहुत समय बाकी है!

## सुनहरी जाल !

पंडित जी आचार्यों के झूठे नाम देकर समाज को इस सुनहरी जाल में खूब फंसाना जानते हैं। आपने गोदान की सिद्धि के लिये पृष्ठ १३९ पर आचार्य शिवकोटि ( भगवती आराधनासारके कर्ता ) कृत रत्नमाला का प्रमाण दिया है। इस से मालूम होता है कि विद्यावारिधि जी को या तो जैन इतिहास का बिलकुल पता ही नहीं है, या जानबूझकर समाज को धोखा दिया है! कारण कि रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि भगवती आराधनासार के कर्ता आचार्य शिवकोटि नहीं थे, यह बात जैन इतिहासवेत्ता पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जैनसिद्धांत-सारादि संग्रह की भूमिका में पृष्ठ २१, २२, २३ पर प्रबल प्रमाणों से सिद्ध की है। आचार्य शिवकोटि का भगवती० के सिवाय कोई भी अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। वे प्राकृत भाषा के विद्वान थे और समन्तभद्रस्वामी से पहिले हुये थे। जब कि रत्नमाला संस्कृत का एक आचार सम्बन्धी प्रकीर्णक है। इसका ६५ वां श्लोक सं० १०१६ में रचित यशस्तिलक से उठाकर रखा गया है। इससे सिद्ध है कि रत्नमाला के कर्ता भगवती आ० के आचार्य शिवकोटि से भिन्न थे। रत्नमाला में कई शिथिलाचार पोषक बातें हैं, जो कि आधुनिक हैं। इत्यादि अनेक बातें रत्न-माला को आधुनिक सिद्ध करती हैं। उसे भगवती० के आचार्य शिवकोटिकृत बताना समाज को सरासर धोखा देना है।

## भूमिदान—स्वर्णदान पाप के कारण हैं !

पंडित जी ने गौदान की भांति भूमिदान और सुवर्ण-दान का भी अनेक कुयुक्तियों से समर्थन करना चाहा है। मगर पूज्य दिगम्बराचार्य अमितगति महाराज ने अमितगति श्राव-

काचार में इनको घोर अनर्थ का कारण बतलाया है!
यथा—

हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति ।
म्रियन्ते प्राणिनो यस्यां सा भूः किं ददते फलम् ॥८-४६॥

भावार्थ—गर्भिणी स्त्री की भांति हलके द्वारा विदारण की गई पृथ्वी में प्राणियों का विनाश होता है? तब वह दान की गई पृथ्वी क्या फल दे सकती है? अर्थात् भूमिदान देना फलदायक नहीं, किन्तु पाप का कारण है। तथा—

तथैनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया ।
स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये ॥ ९–५० ॥

भावार्थ—जैसे कोई किसी को हित की इच्छा से हिंसक अष्टापद ( सिंह ) देता है और वह उसका जीवन नाश कर देता है, उसी प्रकार अष्टापद ( सुवर्ण ) दान करना भी जीवननाश का या दोनों के लिये पाप का कारण है।

अब मैं पंडित मक्खनलाल जी से पूछता हूँ कि श्री० अमितगति आचार्य के यह वचन प्रमाण माने जावें या आपके आचार्य (!) पाडे चम्पालाल के? बड़े दुःख का विषय है कि पक्षपात के वशीभूत होकर एक विद्यावारिधि न्यायालंकार आदि पद विभूषित दि० जैन विद्वान द्वारा ऐसे अनर्थों का समर्थन किया गया है!

पांडेजी ने और पण्डितजी ने पहिले तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोदान आदि सम्यक्ती को देने का विधान है किन्तु पृ० ३०७ पर पांडे जी हाथी दान को भी प्रभावना अङ्ग बना रहे हैं। प्रमाण में एक श्लोक भी दिया है कि—

भट्टादिकाय जैनाय कीर्तिपात्राय कीर्तये ।
हस्तिदान परिप्रोक्तं प्रभावनांग हेतवे ॥

अर्थात्—भट्टादिकों को कीर्ति बढ़ाने और प्रभावना के लिये हाथी दान भी करना चाहिये। पं० नन्दनलाल जी ने इसके नीचे एक लम्बा नोट लगाकर इसका समर्थन भी कर डाला है। बात यह है कि भट्टों को दान देने से वे दाता के गुण गान करेंगे कारण कि उनके लोभ और तृष्णा की शान्ति श्रावक कर देगा। इसीलिये ख़ास करके भट्टों का नामोल्लेख किया है। किन्तु रयणसार में स्पष्ट लिखा है कि—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा ।
लोहीण दाणं जइ विमाणसोहा सवं जाणे ॥२६॥

अर्थात्—सत्पुरुषों को दान देना कल्पतरु के फलों की शोभा के समान और सुखदायक है। किन्तु लोभी को दान देना मरे हुये आदमी की अर्थी की शोभा के समान समझना चाहिये। इससे मालूम होता है कि लोभी और कीर्तिगायक भट्टादिकों को दान देना युक्त नहीं है। किन्तु चर्चासागर की दृष्टि में वह महापुण्य का कारण है। और भी देखिये—

मित्रारिभूपदासेयवैद्यदैवज्ञचारणाः ।
ऐभ्यो यद्दीयते दानं कार्यार्थं न तु पुण्यभाक ॥२२०॥

—गौतमचरित्र।

इसका हिन्दी अर्थ चर्चासागर के भाषान्तरकार पंडित लालाराम जी ने ही इस प्रकार किया है कि "मित्र, शत्रु, राजा, दास, वैद्य, ज्योतिषी भाट आदि लोगों को जो कार्य के बदले दान दिया जाता है उससे कोई पुण्य नहीं होता।" (गौतम० च० पृष्ठ १५१)

टीकाकार पण्डित जी को जिस प्रकार गौतमचरित्र की टीका करने में रुपये मिले थे उसी प्रकार चर्चासागर के भी मिले हैं। इस लिये आप रुपयों के अनुसार अर्थ कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं। अन्यथा चर्चासागर की टीका में उसके समर्थन करने के लिये अपना एक नोट क्यों लगाते ? यह मात्र रुपयों का लोभ नहीं तो और क्या है ?

**पात्रदान की विचित्रता**—पांडेजी ने गौदानादिका पूरा प्रकरण त्रिवर्णाचार से उठाकर रख दिया है। पृ० ३०८ पर एक श्लोक देकर उसका विचित्रही अर्थ कर डाला है। यथा—

जलान्नव्यवहाराय पात्राय कांस्यभाजनम् ।
महाव्रतियतीन्द्राय पिच्छं चापि कमण्डलुम् ॥

अर्थ—"जिन लोगों के साथ अपने अन्नपानी का व्यवहार है ऐसे अपने जाति के लोगों का व्यवहार चलाने के लिये और उनको अन्नजल भरने का सुभीता हो इसके लिये सुपात्रों को कांसे आदि के बर्तन देना चाहिये। तथा महाव्रतियों को पिच्छी कमण्डलु देना चाहिये।"

यहां पर "जलान्नव्यवहाराय" के अर्थ में कैसी गड़बड़ी की गई है यह थोड़ी भी संस्कृत जानने वाला समझ सकेगा। 'जिनके साथ अपने अन्नपानी का व्यवहार हो' इससे पांडेजी ने अपने हृदय की संकीर्णता बताई है। वास्तव में तो इसका अर्थ यह है कि जलान्न के व्यवहारके लिये वर्तन देना चाहिये। यही अर्थ त्रिवर्णाचार के पृ० १८३ पर किया गया है। यथा "पात्रों के लिये खाने और पीने के लिये कांसी आदि के वर्तन देवे और मुनियों को पीछी कमण्डलु देवे।" किन्तु पांडेजी ने निराला ही अर्थ करके अपनी विद्वता बताई है!

**भोगपात्र को दान**—पांडेजी ने वैसे तो १० ही दान

वताये हैं किन्तु आगे चलकर दान और पात्रों की कोई मंख्या ही नहीं रही है। पृ० ३०८ पर लिखा है कि सांसारिक सुख देने वाली स्त्री भोग पात्र है! उसे वस्त्राभूषणादि दान देना चाहिये। अन्यथा पूजा दानादि धर्मकार्यों का लोप होजाता है! इत्यादि। अपनी स्त्री को कपड़े-जेवर देना यह भी एक दान होगया! अगर कोई न दे सका तो सब किया कराया धर्म कर्म कूड़ा हो जायगा! इसमें पाडेजी विचारे क्या करें? उनके आगम ग्रन्थ त्रिवर्णाचार में जैसा लिखा है वैसा उनने चर्चासागर में लिख मारा है!

## गौदान में परस्पर विरोध!

अब पाठकवृन्द थोड़ी दृष्टि पूर्वापर-विरोध पर और डालिये। पृ० ३१० में दान के प्रकरण में आप लिखते हैं कि दान का बड़ा माहात्मय है। इसलिये प्रायश्चित्त में जो गौदान लिखा है वह भी समयानुसार यथायोग्य पात्रको देना चाहिये। मगर जब प्रायश्चित्त में ही गाय देना चाहिये तो फिर वह दान कैसा? क्या सम्पत्ति दान का मतलब दोषों की शुद्धि है? अस्तु! इस जगह अथवा अन्यत्र भी आपने गाय, कन्या, हाथी आदि दान के योग्य द्रव्य तथा इनको देने से पुण्यबंध बतलाया है और आप ही पृ० ३११ में पद्मनंदि पंचविंशतिका के कुछ श्लोक देकर इन्हीं दानों को पाप के कारण बतला रहे हैं। यथा-

"ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्व्याधो भेषजैर्भवेत्।
अन्नदानात् सुखी नित्यं अभयोऽभयदानतः॥
चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्र-
दानानि तानि कथितानि महाफलानि।

*नान्यानि गोकनकभूमिरथांगनादि-*

*दानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥"*

अर्थ—ज्ञानदान से ज्ञानवान होता है, औषधि दान से व्याधि रहित होता है, अभयदान से भय रहित होता है, अन्न-दानसे नित्यसुखी होता है। ये सारभूत चार ही दान (आहार, ज्ञान, औषधि, अभय,) महान फल को देने वाले कहे गये हैं। इनके सिवाय अन्य गाय, सोना, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि दान पापका कारण होने से दान नहीं हो सकते।

इस जगह पर इनको दान ही नहीं माना है। यह कितना विरोधी कथन है ? एक जगह तो इन्हीं को दान बता कर पुण्यकारी बतलाना और दूसरी जगह इन्हीं को पाप का कारण बतलाकर कुदान बतलाना यह कितना विरोध है ? क्या फिर भी ऐसे परस्पर विरोधी चर्चासागर को आगम ग्रन्थ कहा जा सकता है ? (जैनमित्र अङ्क ११ वर्ष ३३)

ग्रन्थकार ने गौदान के समर्थन में आदिपुराण के पर्व ४८ का ८ वां श्लोक दिया है कि—

*ये च व्रतधरा धीरा धौरेया गृहमोधिनां।*

*तर्पणीया हि तेऽस्माभिरीप्सितैः वस्तुवाहनैः॥*

यद्यपि इस श्लोक में 'गौदान' का विधान नहीं है तथापि ग्रंथकार पांडे चम्पालाल जी का लिखना है कि प्रकरण से गौदान भी समझ लेना चाहिये ! दूसरा पद्मनन्दि पंचविंशतिका का एक श्लोक दिया है उसमें भी गौदान का विधान नहीं है, फिर भी पृ० ३१२ पर ग्रन्थकार लिखते हैं कि आदि शब्द से गौदान समझ लेना चाहिये ! इस प्रकार से गौदान के लिये खेंचातानी के साथ बहुत ही प्रयत्न किया गया है। तथा ग्रंथों के झूठे प्रमाण देने का प्रयत्न किया है।

# गौदानादि पाप का कारण है।

पांडेजी ने पृ० ३१२-१३ में अकलङ्कदेव कृत श्रावक प्रायश्चित्त नामक किसी जालीग्रन्थ के कई श्लोक उद्धृत करके 'गौदानं पदे पदे' को सिद्ध किया है। परन्तु समाज को मालूम होना चाहिये कि यह प्रायश्चित्त राजवार्तिककार भगवान भट्टाकलङ्क का बनाया हुआ नहीं किन्तु किसी भोजनभट्ट भट्टारक ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये आचार्य के नामसे रचना की है। अकलङ्क प्रतिष्ठापाठ भी इसी प्रकार जाली ग्रन्थ बनाया गया है, जिसके विषय में लिखा जाचुका है। इधर तो पांडेजी जाली प्रमाण दे देकर गौदान में पुण्य बतला रहे हैं और उधर दि० जैन समाज के मान्यग्रन्थों में इसका स्पष्ट निषेध पाया जाता है। यथा—

*शस्त्रं लोहं तथा रज्जुर्गो महिषीभयाहयः।*
*भूमिकनकरूप्याणि स्वर्णनिर्मित गौः स्त्रियः॥४-२२७॥*
*दुःखसागरपूर्णेषु महानर्थरताः सदा।*
*एषां कुर्वन्ति ये दानं ते पतन्ति कुयोनिषु॥४-२२८॥*

—गौतमचरित्र।

इसका अर्थ चर्चासागर के सवैतनिक भाषान्तरकार पं० लालारामजी शास्त्री ने इस प्रकार किया है—"अनेक प्रकार के अनर्थ करने में तत्पर रहने वाले जो मनुष्य शस्त्र लोहा, रस्सी, गाय, भैंस, ऊंट, घोड़ा, पृथ्वी, सोना, चांदी, सोने की बनी हुई गाय और स्त्रियाँ आदि पाप उत्पन्न करने वाले पदार्थों को दान देते हैं वे महासागर के समान अनेक दुःखों से भरी हुई नरकादि दुर्गतियों में पड़ते हैं।

इसके अतिरिक्त श्री सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तर

श्रावकाचार में भी गौ दानादि को निन्दा करते हुये पृ० २३० पर लिखा है कि—

गौदानं योऽति मूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे ।
वध बंधानि घातादि जातं पापं लभेत सः ॥२०-१५०॥

इसके टीकाकार भी पं० लालाराम जी शास्त्री हैं। आपने लिखा है कि "जो अत्यन्त अज्ञानी पुरुष पुण्यसंपादन करने के लिये गाय का दान देता है वह बंधन आदि के घात से उत्पन्न हुये अनेक पापों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उक्त पंडित जी ने अनेक ग्रन्थों की टीकायें करते हुये गौदानादि का निषेध किया है, किन्तु खेद है कि आप चर्चासागर में एक नोट भी न लगा सके और इन पाप के कारणभूत कुदानों के समर्थक बन गये। समाज को मालूम होना चाहिये कि गौदानादि को जैनधर्म में पाप का कारण माना है।

## रजस्वला की शुद्धि का विरोधी कथन।

चर्चा १६० पृ० ३३३—पर रजस्वला की शुद्धि आदि का वर्णन किया गया है। जैनियों का यह पूर्ण विश्वास है कि हमारे आगम ग्रन्थों में परस्पर विरोध नहीं हो सकता, और यह बात सत्य भी है। किन्तु गोबर पंथियों के चर्चासागर में कितना परस्पर विरोध पाया जाता है यह पाठकों को कई प्रकरणों में बताया जा चुका है। अब इस प्रकरण में भी कुछ विरोधी कथनों को देखिये। पांडेजी ने यह पूरा प्रकरण भी भ्रष्टाचार-प्रवर्तक त्रिवर्णाचार के ही आधार पर लिखा है। उसमें भी खास २ बातें इस प्रकार हैं—

१—महीने के भीतर ही रजःस्राव होने पर केवल स्नान मात्र से शुद्धि होती है। (पृ० ३३३)

२—यदि ऋतुकाल के बाद फिर वही स्त्री अठारह दिन पहिले ही रजस्वला हो जाय तो वह केवल स्नान मात्र से ही शुद्ध होती है। उसको तीन दिनका अशौच नहीं लगता। (३३४)

३—यदि कोई रजःश्राव होने के १६ दिन पहिले ही रजःस्वला हो जाय तो वह स्नानमात्र से शुद्ध हो जाती है।

४—यदि अठारहवें दिन रजोधर्म हो तो दो दिन का सूतक पालना चाहिये।

५—यदि उन्नीसवें दिन हो तो तीन दिन का पालना चाहिये।

६—यदि रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान करले और फिर रजस्वला होजाय तो फिर वह अठारह दिन तक शुद्ध नहीं होती।

पाठक यदि ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि यह कितनी परस्पर विरोधी बातें हैं। पहिले महीने के भीतर फिर १८ दिन और फिर १६ दिनके भीतर स्नान से शुद्धि बताई। इसके बाद १८-१९ दिन में रजोधर्म होने पर २-३ दिन की अशुद्धि बताई जो कि पहिले से विरोध रखती है। नं० ६ में तो बिलकुल विपरीत ही कथन है। इसका कारण मात्र पांडे जी का अज्ञान ही है। कारण कि वे त्रिवर्णाचार के उन श्लोकों का बराबर अर्थ नहीं कर सके हैं जो प्रमाण में दिये हैं। और कुछ त्रिवर्णाचार में स्वयं विरोधी कथन पाया जाता है।

पांडेजी के दूसरे और तीसरे विरोध का कारण तो यह है कि वे त्रिवर्णाचार के सर्ग १३ के श्लोक नं० १२ के 'केचन' शब्द का अर्थ करना भूल गये हैं, जिसका अर्थ यह है किसी का ऐसा भी मत है। पहिले का २-३ आदि के साथ विरोध तो त्रिवर्णाचार में भी है और ४-५ विरोध भी त्रिवर्णाचार में पाया जाता है, कारण कि वह ग्रन्थ भी कोई आगम ग्रन्थ तो है नहीं।

६१. छट्ठे विरोध का कारण पांडेजी का अज्ञान और श्लोक पाठ को ग़लत लिख लेना है। क्योंकि त्रिवर्णाचार के पृ० ३६८ पर श्लोक इस प्रकार लिखा गया है—

रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला।
अष्टादश दिना दर्वागशुचित्वं न निगद्यते ॥१५॥

अर्थात्—यदि चतुर्थस्नान की हुई रजस्वला अठारह दिन से पहिले पुनः रजस्वला होजाय तो अशुद्ध नहीं कही जाती है (अशुचित्वं न निगद्यते)।

पांडेजी ने चर्चासागर के पृ० ३३५ पर इस श्लोक को थोड़ासा परिवर्तित करके लिखा है और 'स्नाता' की जगह 'स्नात्वा' कर दिया है। तथा 'अशुचित्वं न निगद्यते' की जगह शुचित्वं न निगद्यते' लिख मारा है। इसलिये अर्थ औंधा हो गया है। इसी त्रिवर्णाचार का कथन है कि "अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं न निगद्यते" अर्थात अठारह दिन के पहिले रजस्वला होने पर अशुचि नहीं कही जाती। किन्तु पांडेजी ने 'शुचित्वं न निगद्यते' लिखकर शुचि नहीं मानी जाती लिख मारा है। यह औंधा अर्थ करते समय उन्हें यह भी ख़्याल नहीं आया कि हम पहिले १८ दिन तक के लिये स्नान शुद्धि लिख आये हैं। जहां ऐसी २ बिलकुल विपरीत भूलें भरी हों वहाँ आगम मानना यह तो गोबरपंथी बुद्धि का ही काम है!

## व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि।

पांडेजी ने व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि के विषय में भी कई विरोधी कथन किये हैं। यथा—

१—परपुरुषगामिनि स्त्री जीवन पर्यन्त अशुद्ध रहती है। (पृ० ३३८)

२—परपुरुष गामिनी स्त्री परपुरुष का त्याग कर देने मात्र से ही शुद्ध हो सकती है। ( पृ० ३३८ )

३—एक वार सेवन की गई हो तो ३०० उपवास और शिर मुण्डन करने पर शुद्ध होती है। (पृ० ३१८)

४—आर्यिका प्रतिक्रमण पूर्वक पंचकल्याणक करने से शुद्ध होती है। (पृ० ३२९ )

५—चाण्डालादि के साथ व्यभिचार करने वाली स्त्री ५० उपवास ५०० एकासन आदि करके शुद्ध होती है। (पृ० २९९)

६—माली आदि से संसर्ग करने वाली स्त्री ५ उपवास १० एकाशन आदि करके शुद्ध होती है। ( पृ० ३०० )

इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री की परस्पर विरोधी शुद्धि बताई है। गोबरपंथी इन शुद्धियों में से किसको प्रमाण मानते हैं। खासकर चर्चासागर भक्त पं० मक्खनलाल जी से निवेदन है कि आप व्यभिचारिणी स्त्री को या एक वार सेवन की गई स्त्री को कौनसा प्रायश्चित देकर शुद्ध मानते हैं? कारण कि आप लोगों की कृपा से शुद्धि विधान किसी विचित्ररूप में ही पाया जाता है। पुरुष की शुद्धि करके स्त्री की शुद्धि की तो कोई बात ही नहीं करता है! जबकि पांडे जी चाण्डाल माली आदि से संसक्त स्त्री की भी शुद्धि मानते हैं।

## शास्त्र-सभा में बोलती बन्द।

चर्चासागर के पृष्ठ ३२८ पर लिखा है कि "जो गृहस्थ शास्त्र-सभा में बैठ कर बातें करे ऐसे पुरुष को देखकर ही वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये!"

पं० मक्खनलाल जी ने यहाँ पर भी अपना न्याय लगाया है। आपका लिखना है कि- "आजकल ऐसे भी मनुष्य दि० जैन समाज में देखे गये हैं, जो मंदिरों में शास्त्र सभा में

बैठकर रजस्वला स्त्री को भी मंदिरमें जाने का समर्थन करते हैं! शास्त्र सभा में बैठकर विधवाविवाह, छूआछूत लोप, जातिपांति लोप आदि का समर्थन करते हैं। ऐसे लोगों के लिये ही शास्त्र सभा में बात करने की मनाई को गई है। उन्हे बात करते देख कर सभी सुनने वालों को सवस्त्र स्नान करना चाहिये!!!"

पंडित जी ने इस कथन में अपने उसी पुराने अभ्यस्त और समाज को चक्कर में डालने के लिये अचूक हथयार को हाथ में लिया है! यहाँ पर आप अपनी पेट की तमाम बाते उगल गये हैं। मगर उन्हें यह ख़बर नहीं है कि पांडेजी के समय में यह चर्चायें ही कहां थीं? पांडेजी की रक्षा के लिये या चर्चा-सागर को आगम ग्रंथ सिद्ध करने के लिये ही पण्डित जी जो न करें सो थोड़ा है। चर्चासागर में तो सामान्य बातचीत करने वाले की मनाई की गई है और किसी हिन्दू शास्त्र का श्लोक प्रमाण में रखा गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा खट्वारूढां रजस्वलां।
शास्त्रस्थाने गृहवक्तृन् सचेल स्नानमाचरेत् ॥

अर्थात्—घोड़े पर सवार मुनि को, खाट पर बैठी हुई रजस्वला को और शास्त्र सभा में घर की बातें करने वालों को देखकर सवस्त्र स्नान करना चाहिये।

यह श्लोक किसी भी जैन शास्त्र का नहीं है। कारण कि जैन मुनि कभी भी घोड़े पर नहीं चढ़ते, न यहाँ शास्त्र सभा में रजस्वला स्त्री या विधवाविवाह की बातों का ही प्रकरण है। यह तो पं० मक्खनलाल जी के दिमाग़ का ही आविष्कार है! फिर भी यदि थोड़ी देर को पं० जी की बात भी मानी जाय तो सुनने वालों का इसमें क्या दोष है? कहीं पर हज़ार पांचसौ आदमी की बड़ी शास्त्र सभा हो रही हो और कोई

आदमी ऐसी वात वोल उठे तो क्या विचारे सभी सभाजनों को सवस्त्र स्नान कर डालना चाहिये ? पाठकों को इन तमाम निःसार वातों पर विचार करना चाहिये कि इनमें क्या तथ्य है ?

पं० मक्खनलाल जी अपने ट्रैक्ट के पृ० १६५ पर प्रकरण संवंधादि का दावा करते हुये लिखते हैं कि "पूरोपंक्तियों का और ऊपर नीचे के वाक्यों का संवंध मिलाकर ही अर्थ करना सरलता एवं न्यायमार्ग है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु आपके आचार्य पांडेजी ने इसका पालन नहीं करके घोर अन्याय किया है! कारण कि रजस्वला-शुद्धि के प्रकरण में मुनि का घोड़े पर चढ़ने और शास्त्र सभा में वातें करने का क्या सम्वन्ध था ? इसके साथही साथ आपतो स्वयं ही न्यायमार्ग का उल्लंघन कर रहे हैं; कारण कि शास्त्रसभा में वैठकर वातें करने से और रजस्वला से कोई सम्वन्ध नहीं है, जिसका कि आप व्यर्थ ही गठजोड़ा कर रहे हैं। किन्तु पांडे जी को तो सिर्फ़ रजस्वला को पलंग पर नहीं सोने का प्रमाण देना था, इसलिये किसी अजैन ग्रन्थ का प्रमाण ठोक दिया। उसमें कई वातों की मनाई की गई है; उसी प्रकार से रजस्वला को पलंग पर नहीं वैठने की भी मनाई की है। यदि आप इस श्लोक को संवंधसिद्ध मानते हैं तो कहिये मुनि-का घोड़े पर चढ़ने से और रजस्वला से क्या सम्वन्ध है ? जव इनका कोई सम्वन्ध नहीं वैठता है तव असंवद्ध वात लिखकर आपके पांडेजी ने अन्याय किया या नहीं ?

शास्त्रसभा में वैठकर वात करने वाले और सुनने वाले को सवस्त्र स्नान करने की वात भी विचित्र और असंवद्ध है। यदि इसका कोई सम्वन्ध हो और यह ठीक हो तो किसी जैन शास्त्र में ऐसी आज्ञा वताइये। क्या इधर उधर के वटोरे हुये श्लोकों को जैन शास्त्र के नाम से लिखे जाने पर आप उन्हें

प्रमाण मान लेंगे ? यदि इस सवस्त्र स्नान की बात को ठीक मान लिया जाय तब तो गोबरपंथियों को एक एक धोतीदुपट्टा हर एक शास्त्र सभामें अधिक लेकरही जाना चाहिये। कारण कि न जाने कब कोई बात कर बैठे और कब स्नान करने का मौका आ जाय !

## बालक की शुद्धि।

अन्य मिथ्याचारों की भाति चर्चासागर में रजस्वला की शुद्धि का एक अनोखा पाखण्ड बतलाया है। उसमें भी बालक को शुद्ध करने की विधि तो और भी विचित्र है। पृष्ठ ३३९ पर त्रिवर्णाचार का प्रमाण देकर लिखा है कि—

तया सह तद्बालस्तु द्व्यष्टस्नानेन शुद्धयति।
*तां स्पर्शन् स्तनपायी वा प्रोक्षणेनैव शुद्धयति ॥*

पाडे जी ने इसका यह अर्थ किया है कि "यदि कोई बालक मोहसे रजस्वला स्त्री के पास सोवे बैठे वा रहे तो सोलह-बार स्नान करने से उसकी शुद्धि होती है। यदि कोई दूध पीने वाला बालक दूध पीने के लिये उसका स्पर्श करे तो जलके छींटे देने मात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है !"

यहापर बतलाया गया है कि यदि बालक अपनी माता को हठपूर्वक छुये तो उसे सोलहबार स्नान कराना चाहिये और यदि दूध पीने के लिये छुये तो मात्र पानी के छींटे दे देना चाहिये। यह १६ बार स्नान कराने की मूर्खतापूर्ण आज्ञा देख कर पं० मक्खनलाल जी चकरा गये हैं ! इसलिये आप ट्रैक्ट के पृष्ठ १६० पर लिखते हैं कि—"यह अर्थ वास्तव में ठीक नहीं है, शास्त्र ( पंडित जी योनिपूजक त्रिवर्णाचार को शास्त्र मानते हैं ) का प्रमाण देते हुये भी चम्पालाल जी उसका अर्थ करने में चूक

गये हैं। इसलिये उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि १६ वर्षका बालक अधिक मोहवश अपनी माता के पास चला जाय तो उसकी शुद्धि स्नान से होती है। परन्तु दुधमुँहा बच्चा जलके छींटे देने से शुद्ध होता है।"

पण्डित जी की इस निःसार वकालत को देखकर आश्चर्य होता है। यदि आप निष्पक्ष होकर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि पांडे जी का मतलब एक ही बालक से है। उनकी दृष्टि में १६ वर्ष का और दूधमुंहा यह दो भेद नहीं थे। मगर उनका तो मतलब केवल इतना ही था कि यदि बालक मोह से या हठ-पूर्वक माता के पास सोवे तो १६ वार स्नान कराना चाहिये और यदि वह दूध पीने को जावे तो छींटे देना चाहिये। यदि पांडे जी की भूल स्वीकार करके भी पंडित जी का अर्थ लिया जाय तो भी वह युक्त नहीं बैठता है। कारण कि १६ वर्ष का समझदार लड़का रजस्वला माता को छूने की हठ कभी नहीं कर सकता। पांडेजी को बचाने के लिये यह तो पं० जी की ही विचित्र सूझ है! पाठक विचार सकते हैं कि जब यह १६ वार स्नान कराने की बात किसी तरह से भी गले उतरना कठिन मालूम हुई तब पंडित जी ने पांडे जी की भूल स्वीकार करली। मगर ऐसी तो अनेकों भूलें चर्चासागर में भरी पड़ी हैं। पंडित जी कहां तक सम्हालेंगे?

## रजस्वलाकी शुद्धि।

इसी प्रकार पांडेजी ने रजस्वला की शुद्धि का भी विचित्र विधान किया है। उसी भ्रष्टाचार (त्रिवर्णाचार) का प्रमाण दे कर पृष्ठ २३९ पर लिखा है कि—"यदि अशक्त स्त्री रजस्वला हो जाय तो एक सशक्त स्त्री उसे स्नान करके छुये और फिर स्नान करके फिर छुये, इस प्रकार १० वार स्नान करके १० वार छूने

से रजस्वला स्त्री विना नहाये ही शुद्ध हो जाती है !" पं० मक्खनलाल जी इस पाखण्ड के समर्थन में भी नहीं चूके हैं और ट्रैक्ट के पृष्ठ १६२ पर लिखते हैं कि-'यह बात ठीक भी है।' मालूम होता है कि पंडित जी को जैनसिद्धांत, जैनाचार या लोक-व्यवहार की अपेक्षा पांडे चम्पालाल और त्रिवर्णाचार की आज्ञा विशेष मान्य है ! मगर पंडित जी अपने ट्रैक्ट का नाम 'शास्त्रीय प्रमाण' रखकर भी इस विषय में कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं दे सके हैं।

पाडे जी ने इस शुद्धि-विधान के लिये त्रिवर्णाचार के जो श्लोक प्रमाण में रखे हैं उनमें से श्लोक नं० ८५ वा तो रोगी पुरुष की शुद्धि के लिये था, किन्तु पाडे जी ने उसे अदल बदल कर रजस्वला स्त्री के साथ जोड दिया है। यथा—

आतुरे तु समुत्पन्ने दशवारमनातुरा ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पर्शेदेनामातुरा शुद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥

अर्थ—इसका यह होता है कि कोई बीमारी आदि होने पर निरोगिणी स्त्री बार २ स्नान करके उसे १० बार स्पर्श करे तो वह रजस्वला स्त्री शुद्ध हो जाती है ! यही श्लोक त्रिवर्णाचार के पृ० ३७९ पर अध्याय १३ में इस प्रकार है कि—

आतुरे तु समुत्पन्ने दशवारमनातुरः ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनमातुरः शुद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥

इसका अर्थ यों किया गयाहै कि यदि कोई पुरुष बीमार होने से न नहा सके और घर में सूतक-शुद्धि करना हो तो निरोगी पुरुष १० बार स्नान करके उसे १० बार स्पर्श करे ! बस, वह बीमार पुरुष विना नहाये ही शुद्ध हो जायगा !

दोनों का पाखण्ड बराबर है; जो पढ़ेगा वह इस आविष्कार को देख कर दंग रह जायगा ! मगर दोनों में अन्तर

इतना ही है कि सूतकशुद्धि का प्रकरण था, इसलिये यह श्लोक त्रिवर्णाचार के अनुसार रोगी पुरुष के लिये लागू होता था, किन्तु पांडेजी ने उसे रजस्वला के साथ जोड़ कर अपनी पंडिताई बताई है; कारण कि वह बिलकुल असंगत मालूम होता है। क्यों कि रजस्वला की शुद्धि के लिये तो इसी प्रकार के पाखण्डदर्शक तीन श्लोक आगे अलग ही दिये गये हैं। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

जरा [ ज्वरा ] भिभूता या नारी रजसाचेत्परिप्लुता।
कथंतस्य [तस्या] भवेच्छौच्यं [छौचं] शुद्धिस्यात् केनकर्मणा ॥८६
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पर्शेदन्यातुतां स्त्रियम्।
सा च सचैव भ्राह्या यः स्पर्शेस्नात्वा पुनः पुनः ॥८७॥
[ स्नात्वाचैव पुनस्तां वै स्पृशेत् स्नात्वा पुनः पुनः ]
दश द्वादशवा कृत्वा [कृत्वोवा] ह्याचमनं [ह्याचमेच्च] पुनः पुनः।
अन्त्येच वाससां त्यागं स्नात्वा [ स्नाता ] शुद्धाभवेत्तुसा ॥८८॥

इसप्रकार श्लोकों में जो कोस [ ] दिये हैं उतना परिवर्तन त्रिवर्णाचार में पाया जाता है। पांडे जी ने यह परिवर्तन क्यों किया सो कुछ समझ में नहीं आता। किन्तु इससे इतना तो ज़रूर अनुमान होता है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान विशेष नहीं था। इन श्लोकों के विचित्र विधान को देख कर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। ऐसी वैज्ञानिक (!) शुद्धि किसी भी जैनशास्त्र में नहीं मिलती। हां, त्रिवर्णाचार में यह विधान है किन्तु वह जैनशास्त्र नहीं कहा जा सकता। कारण कि उसमें हिन्दू शास्त्रों से श्लोक चुरा चुराकर जैनी पालिश करके जैनियों में मिथ्यात्व घुसेड़ने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इसकी तमाम पोल जैनइतिहासज्ञ श्री० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सा० ने ग्रंथपरीक्षा तृतीय भाग में भली भांति खोल

दी है। रजस्वला की इस विचित्र शुद्धि के श्लोक भी हिन्दुओं के स्मृतिशास्त्र में से उड़ाये गये हैं, जिनके विषय में मुख्तार साहब ने इस प्रकार लिखा है कि—

ये तीनों पद्य ज़रासे परिवर्तन के साथ 'उशना' नामक हिन्दूऋषि के वचनहैं, जिनकी 'स्मृति' भी 'औशनसधर्मशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य स्मृतिकी मिताक्षरा टीका, शुद्धिविवेक और स्मृतिरत्नाकर आदि ग्रंथों में भी उन्हें 'उशना' के वचन लिखा है। मिताक्षरा आदि ग्रंथों में इन पद्योंका जो रूप दिया है उससे मालूम होताहै कि पहिले पद्य में सिर्फ 'च' की जगह 'चेत्' बनाया गया है। दूसरे का उत्तरार्द्ध 'सा सचेलावगाह्या यः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत्' नामक उत्तरार्द्ध की जगह कायम किया गया है। और तीसरे में त्यागस्ततः की जगह 'त्यागं स्नात्वा' का परिवर्तन हुआ है। इत्यादि (ग्रन्थ परीक्षा तृतीय भाग पृ० ४०)

इससे सिद्ध होता है कि त्रिवर्णाचार में हिन्दू शास्त्रों के श्लोक कुछ परिवंतन करके भरे गये हैं और स्वार्थी एवं दुराग्रही पण्डितों ने उसे जैनशास्त्र घोषित किया है। उसी योनिपूजक मिथ्यात्ववर्धक एवं अनाचारपोषक त्रिवर्णाचार के आधार पर इस चर्चासागर की रचना हुई है।

यदि त्रिवर्णाचार के इस शुद्धि-विधान को मान्य किया जाय तो उसमें तो ऐसे २ विचित्र विधान हैं कि पाठकगण आश्चर्यचकित हो जावेंगे। उसकी कुछ बानगी यह है; देखिये—

ऋतुकालोपगामी तु प्राप्नोति परमां गतिं। ८-४८

अर्थात् ऋतु समय में स्त्री से संगम करने वाला परमगति को पाता है।

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पितृभिः सह मज्जति ॥८-४९॥
ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति ।
शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा ॥८-५०॥

अर्थात्—स्त्री के ऋतुस्नान करने पर जो पुरुष उसके साथ संभोग नहीं करता है वह अपने मातापितादि के साथ ही भ्रूण हत्या के घोर पाप में डूबता है ! और जो ऋतुस्नाता स्त्री अपने पति के पास नहीं जाती है वह मरकर कुत्ती, भेड़, हिरनी व शृगालिनी होती है (पृ० २३८) । संभोग न करने पर स्त्री पुरुष की दुर्गति तो बताई ही है, पर विचारे माता पिता भी इसमें डूब जाते हैं !!!

बड़े दुःख का विषय है कि पं० मक्खनलाल आदि जैन विद्वान ऐसे भ्रष्ट ग्रंथों को आगम ग्रंथ मानते हैं, जिसका परिणाम भविष्य में बहुत ही भयंकर होने वाला है ।

## तीर्थंकरों के कल्याणक ।

चर्चा २१३ पृष्ठ ४१५ पर पांडे जी ने लिखा है कि वास्तव में तीर्थंकर तो पूर्ण पांचों कल्याणकों को धारण करने वाले ही होते हैं, ऐसा नियम है । कम कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते हैं ! कम कल्याणक तो श्वेताम्बर लोग मानते हैं । तीर्थंकरके कम कल्याणक मानने से वे हीन पुण्यी तथा कम अतिशय वाले माने जावेंगे; इत्यादि ।

इसके लिये पांडे जी ने कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है, फिर भी तीर्थंकर के कम कल्याणक मानना श्वेताम्बरों की मान्यता बता दी है। पाठकों को यह याद रखना चाहिये

कि विदेह के तीर्थंकरों के विषय में पांडे जी ने यह लिखा है, कारण कि शंका विदेह के सम्बन्ध में ही की गई थी। पांडे जी वहां भी कम कल्याणक मानकर अपनी शास्त्रान-भिज्ञता प्रगट कर रहे हैं। दिगम्बर जैन शास्त्रों में तो विदेहों में तीर्थंकरों के २, ३ और ५ कल्याणक बताये गये हैं; यथा—

"भगवान गुणपाल तीन कल्याणक के धारक हैं। महा-विदेह क्षेत्र विषैं तीर्थंकरों के कल्याणक पांच भी होंय, तीन भी होंय अर 'केवल-निर्वाण' दोय भी होंय।" (आदि पुराण पर्व ४७ वचनिका पं० दौलतराम जी कृत पृष्ठ ६४१)।

इसके अतिरिक्त पं० सदासुखदास जी कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा वचनिका में षोड़शकारण भावना के विवेचन में पृ० २४१ पर लिखा है कि—

"पूर्वजन्म में षोड़शकारण भावनाकरि तीर्थंकर प्रकृति बाँधे है, ताके पंचकल्याणक की महिमा होय है। अर जो विदे-हन में गृहस्थपना में तीर्थंकर प्रकृति बांधे सो उसही भव में 'तप-ज्ञान-निर्वाण' तीन कल्याणकनिमैं इन्द्रादिक करि पूजन पाय निर्वाण कूं प्राप्त होय है। केई विदेह क्षेत्रनिमैं मुनिके व्रत धारयां पीछैं केवली के निकट षोड़शकारण भावना भाय उसी भवमैं तीर्थंकर होय 'ज्ञान-निर्वाण' कल्याणक दोय कल्याणक की पूजा कौं प्राप्त होय है।"

इसी प्रकार और भी कई जैनशास्त्रों में तीर्थंकरों के २-३ कल्याणकों का विधान पाया जाता है। परन्तु पांडेजी ने इसे श्वेताम्बरों की मान्यता लिखकर अपना अज्ञान प्रगट किया है।

आगे चलकर पृ० ४१७ पर भी पांडेजी ने अपने हठवाद को सिद्ध करने के लिये लिखा है कि "तीर्थंकर गर्भ से ही होन-हार तीर्थंकर होते हैं!………यह निश्चित है कि पांचों कल्याणकों

के विना तीर्थंकर नहीं होते !" इत्यादि अब पाठक विचार सकते हैं कि पांडेजी के इस अज्ञान के लिये क्या किया जाय ? जहां आगम की परवाह न करके अपना दुराग्रह ही सिद्ध करना है वहा तो किसी की सत्य वात भी क्योंकर स्वीकार की जासकती है ? क्या पं० मक्खनलाल जी और अन्य चर्चासागरभक्त भी विदेहों में कम कल्याणक नहीं मानते हैं ?

## भ० पार्श्वनाथ का उपसर्ग निवारण ।

चर्चा २२८ पृ० ४३० में शंका की गई है कि भगवान पार्श्वनाथ को बराबर ७ दिन तक उपसर्ग होता रहा, इसके वाद धरणेन्द्र पद्मावती आये और उपसर्ग दूर किया, परन्तु वे पहिले क्यों नहीं आये ? पाडेजी ने इसका समाधान करते हुये लिखा है कि "यदि धरणेन्द्र पद्मावती उसी समय आजाते तो इतने दिन तक उपसर्ग कैसे रहता ? वे अपने पूर्व कर्मों के फल को किस प्रकार भोगते ? तथा उस उपसर्ग-विजय से अनन्त कर्मों की निर्जरा कैसे होती ? और इसके विना वे केवलज्ञान कैसे पाते ?" इत्यादि ।

इससे तो सिद्ध होता है कि धरणेन्द्र पद्मावती ने आकर कुछ भी नहीं किया था। कारण कि कर्मों का फल भोगने पर उपसर्ग तो स्वयं ही दूर हो जाना चाहिये, तथा निर्जरा और केवलज्ञान भी उपसर्ग विजय के बाद हो जाना स्वाभाविक ही है। इसमें धरणेन्द्र और पद्मावती ने क्या उपकार कर दिया ? पांडेजी के ही कथनानुसार भगवानने अपने पूर्व कर्मों को भोग लिया था, तव तो कर्मकृत उपसर्ग भी स्वयमेव दूर होगया होगा। फिर धरणेन्द्र पद्मावती का कोई महत्व नहीं रहता है। और वास्तव में है भी ठीक, कारण कि कर्मफल के सामने कोई देव क्या कर सकता है ? "नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः" इस श्लोक को

देखकर तो और भी स्पष्ट होजाता है। अर्हन्त स्वयमेव कर्मों पर विजय प्राप्त करते हैं—उन्हें न किसी की मदद चाहिये है और न कोई कर ही सकता है।

## भगवान पार्श्वनाथ का फण !

पांडेजी ने पृ० ४३२ पर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति में सर्प के फण होने के निम्न लिखित कारण बतलाये हैं, उन की निस्सारता को पाठकगण ध्यान से देखें:—

१—यह मूर्ति केवलज्ञान कल्याणक की नहीं है, किन्तु वह प्रतिमा गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण इन पांचों कल्याणकमय है! प्रतिष्ठा के समय पाचों कल्याणकों की प्रतिष्ठा होती है।

समीक्षा—यदि मूर्ति को गर्भ-जन्म और तप अवस्था को भी मानते हैं तो उसे वीतराग कैसे कहा जा सकता है? कारण कि उन अवस्थाओं में भगवान पूर्ण वीतराग नहीं होते हैं और जब प्रतिष्ठा के समय की पाचों कल्याणकमय मूर्ति मानना अभीष्ट है तब तो उसे फणकी भाति वस्त्राभूषण भी पहिनाना चाहिये। मात्र तपकल्याणक का ही चिन्ह ( फण ) क्यों रखा जाता है। जिस प्रकार छद्मस्थ अवस्थाका फण वीतराग मूर्ति पर होने से कोई बाधा नहीं आती उसी प्रकार वस्त्राभूषणों में भी बाधा नहीं होना चाहिये। और जब छद्मस्थावस्था के वस्त्राभूषण पहिनाने से वीतरागता में बाधा आती है तब फणावली भी नहीं होनी चाहिये।

२—तपकल्याणक की विधि में पार्श्वनाथ की प्रतिमा में फणावली भी होनी चाहिये। इसी अभिप्राय से धातु व पाषाण में फणा का चिन्ह बनाया जाता है। बनने के बाद वह दूर हो

नहीं सकता। तथा प्रतिष्ठा के समय पहिले के सब संस्कार होने ही चाहियें।

समीक्षा—"बनने के बाद वह दूर हो नहीं सकता" इस छलपूर्ण वाक्य से मालूम होता है कि यदि फणा प्रतिमा से अलग बनाया जाता होता तो पांडेजी उसे अलग करना ठीक समझते; तब फिर ऐसी क्या आवश्यक्ता है कि फणा प्रतिमा में बनाया जाता है? यदि वास्तव में देखा जाय तो फणा प्रतिमा में होना ही नहीं चाहिये, कारण कि उपसर्ग निवारण के समय भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती अपने फणाओं के समूह का वज्रमयी छत्र बनाकर बहुत ऊंचा ऊपर उठा कर खड़ी रही थी। यथा—

भर्तारमस्थादावृत्य तत्पत्नी च फणात्ततेः।

*उपर्युच्चैः समुद्धृत्य स्थिता वज्रातपच्छदम् ॥७३—१४०॥*

—उत्तर पुराण।

इससे सिद्ध होता है कि प्रतिमा को फणयुक्त नहीं बनाया जाना चाहिये। पांडेजी के कथनानुसार यदि 'प्रतिष्ठा के समय पहिले के सब संस्कार होना ही चाहियें' तो फिर जन्म-कल्याणक के वस्त्राभूषणादि भी अरिहन्त की प्रतिमा में रहना चाहियें। जबकि शरीर से दूर रहने वाला फण प्रतिमा में बनाया जाता है तब शरीर पर पहिनाये गये वस्त्राभूषण क्यों क़ायम नहीं रक्खे जावें? यदि वस्त्राभूषण से सरागता प्रगट होती है तो फणावली भी वीतराग (केवलज्ञान) अवस्था की नहीं है। तब उसका होना उचित नहीं है!

३—चर्चासागर के भाषान्तरकार पं० लालारामजी ने उत्तरपुराण के कुछ असंबद्ध श्लोक देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि भगवान को केवलज्ञान होने के बाद तक फणा क़ायम रहा था! आपने यहां तक भी लिख डाला है कि "वह

उपद्रव मोहनीय कर्म के नाश होने के बाद हुआ था" !!! पंडित जी ने उत्तर पुराण के पर्व ७३ का श्लोक १४२ वां देकर लिखा है कि "तदनन्तर भगवान ध्यान में तल्लीन हुये, ध्यान के महात्म्य से मोहनीय कर्म नष्ट हो गया। और मोहनीय के नाश होने से कमठ शत्रु का सब विकार नष्ट हो गया।" वह श्लोक इस प्रकार है—

ततो भगवतो ध्यानमाहात्म्यान्मोहसंक्षये।

*विनाशमगमाद्विश्वो विकारः कमठाद्विषः ॥ १४२ ॥*

यदि पंडित जी ने इसके आगे के श्लोकों को छलपूर्वक न छिपाया होता तो समाज समझ सकती थी कि यह श्लोक अरिहंत या केवली होने की अवस्था का नहीं है। किन्तु उक्त श्लोकानुसार कमठका विकार दूर होने के बाद भगवान को केवलज्ञान हुआ था। यह बात आगे के श्लोकों से बिलकुल स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। यथा—

*द्वितीयशुक्लध्यानेन मुनिर्निर्जित्य कर्मणां।*

*त्रितयं चैत्रमासस्य कालपक्षे दिनादिमे ॥१४३॥*

भागे विशाखनक्षत्रे चतुर्दश्यां महोदयः।

संप्राप्तकेवलज्ञानं लोकालोकावभासनं ॥ १४४ ॥

अर्थात्—कमठशत्रु के विकार दूर होने के बाद दूसरे शुक्ल ध्यान के द्वारा मुनि ने (यहां पर उपसर्ग दूर होने पर भी और केवलज्ञान न होने से भगवान को मुनिपद से उल्लेख किया है, केवली या अर्हन्त वाचक शब्द नहीं दिया है) ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों को नाश करके चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को विशाखा नक्षत्र में सवेरे के समय लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त किया।

असंबद्ध श्लोक देकर समाज को धोखे में डालना चाहा है! खेद!

## आज्ञा और परीक्षा।

जब पांडेजी भगवान की फणावली को केवलज्ञान के समय की सिद्ध नहीं कर सके और मूर्ति को पंचकल्याणक मय नहीं बता सके तब आप पृष्ठ ४३३ पर लिखते हैं कि "कदाचित् कोई यह कहे कि हम तो परीक्षाप्रधानी हैं आज्ञाप्रधानी नहीं हैं तो इसका समाधान यह है कि धर्मध्यान के चार भेद वा दश भेद बताये हैं। उनमें आज्ञाविचय नाम का भेद सबसे पहिले और सबसे मुख्य बताया है। वह व्यर्थ हो जायगा।" इत्यादि।

पाडेजी आज्ञाविचय को धर्म ध्यान बता रहे हैं परन्तु उन्हे यह ख़बर नहीं है कि "आज्ञाविचय ही तो धर्मध्यान नहीं है— धर्मध्यान में और भी गुंजाइश है। दूसरी बात यह है कि जहाँ बुद्धि का प्रवेश न हो वहीं आज्ञा का सहारा लेना ठीक है— बुद्धिगम्य बातों का निर्णय तो बुद्धि से ही करना पड़ेगा। तीसरी बात यह है कि आज्ञा मालूम हो जाय तो उसका मानना ठीक है, परन्तु आज्ञा अनाज्ञा के निर्णय के लिये तो परीक्षा को आवश्यक्ता है ही। चौथी बात यह है कि भगवान की आज्ञा को युक्ति-तर्क से परीक्षा करके साबित करना यह भी आज्ञाविचय है। राजवार्तिक में लिखा है कि—

"तत्र आगमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः आज्ञाप्रकाशनार्थो वा,......तत्समर्थनार्थस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते"

अर्थात्—आगम प्रमाण से अर्थ को ग्रहण करनाआज्ञा

विचय है और आज्ञा को तर्क नय प्रमाण से सिद्ध करना भी आज्ञाविचय है! मतलब यह है कि आज्ञाविचय में भी तर्कादि परीक्षा को पूरा स्थान है। तथा आगम में वर्णित बात को ही आज्ञासे मानना चाहिये, परन्तु आगम क्या है, इस बातका निर्णय तो बुद्धि से ही करना पड़ेगा।" —(जैनजगत वर्ष ७ अङ्क २)

सच बात तो यह है कि पांडेजी या ऐसे ही कुछ दुराग्रही लोगों ने धर्म के नाम पर मिथ्याचारी, शिथिलाचार एव अनाचार प्रवर्तक ग्रन्थों की रचना की है और उसे आगमसिद्ध बताने के लिये आज्ञाप्रधानता का भय लगा दिया है। इसी आज्ञाप्रधानता के जाल में फंसाकर आज त्रिवर्णाचार और सूर्यप्रकाश जैसे जैनधर्म को कलंकित करने वाले ग्रन्थों का प्रचार हो रहा है। न जाने कितने स्वार्थी भट्टारकों ने आगम की दुहाई देकर कैसी २ रचनायें रची हैं, जिससे अविरोधी एवं विशुद्ध जैनधर्ममें कितनी ही गड़बड़सी मालूम होने लगती है। पांडेजी के समान कई पक्षान्धों ने अपनी विद्वत्ता में मत्त होकर आर्षागम विरोधी ग्रन्थों की रचना की है और कितने ही अचार्यों के नाम से जाली ग्रन्थ बनाये हैं। इसलिये आज तो परीक्षा करने की प्रधान आवश्यक्ता है। इसी विषय में स्व० पण्डित शिरोमणि टोडरमल जी ने लिखा है कि—

"बहुरि कोई आज्ञा अनुसारी जैनी हैं। जैसे शास्त्र विषैं आज्ञा है तैसे मानैं हैं। परन्तु आज्ञा की परीक्षा करैं नाहीं। सो आज्ञा ही मानना धर्म होय तौ सर्व मतवारे अपने अपने शास्त्र की आज्ञा मानि धर्मात्मा होंइ। तातैं परीक्षा करि जिनवचनको सत्यपनौ पहिचानि जिन आज्ञा माननी योग्य है। विना परीक्षा किये सत्य असत्य का निर्णय कैसे होय।"

—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३०४

यदि परीक्षा करके तत्वार्थका निर्णय करना अनुचित

होता तो स्वामी समन्तभद्र ने भगवान महावीर की परीक्षा नहीं की होती! क्या भगवान समन्तभद्र अश्रद्धानी थे? क्या वे नहीं जानते थे कि भगवान महावीर का सिद्धान्त सच्चा है? तब फिर उनने आप्त परीक्षा क्यों की? यदि पांडेजी की आज्ञानुसार परीक्षा बन्द करके मात्र श्रद्धापर ही आधार रखा जाता तो विचारे गोबरपंथियों की सारी पोल कैसे खुलती? चर्चासागर का भ्रष्टाचार कैसे प्रगट होता? और समाज सत्यको कैसे समझ पाती? जो लोग परीक्षा से डरते हैं, उनका माल खराब है और वहां कुछ दाल में काला होना चाहिये। जब कि सच्चा जौहरी अपने रत्नों को छड़े चौक रख कर किसी को भी परीक्षा करने से इन्कार नहीं करता। एक सर्राफ यह पुकार २ कर कहे कि 'हमारा सोना खरा है, किन्तु उसे तपाकर परीक्षा नहीं करने दूंगा' तो क्या उसका सोना सच्चा माना जा सकता है? जैन धर्म परीक्षा की आंच से नहीं डरता है। जो लोग परीक्षा का विरोध करके आज्ञा को ही प्रमाण मानते हैं वे पवित्र जैनधर्म पर एक कलंक का टीका लगाते हैं! हमारे जैनधर्म में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा परीक्षा-प्रधानता विशेष है।

यदि हमारे धर्म की नींव परीक्षा पर न होती और मात्र अंधश्रद्धा पर ही आधार होता तो जैन शासन का दुर्भेद्य किला इस वैज्ञानिक युग में कभी का गिर गया होता। जब हमारे धर्म में परीक्षा को पूर्ण अवकाश है तब विज्ञानवाद आवे या साइंस वाद, कोई भी इस परीक्षित धर्म का बालबांका नहीं कर सकता। कायर परीक्षा से डरते हैं; कायरता वीर का धर्म नहीं है।

## तेरह पंथ की उत्पत्ति पर पांडेजी के कलुषित उद्गार!

पांडे चम्पालाल ने पृ० ४५८ से ४६६ तक दिगम्बर तेरह

पंथ की उत्पत्ति जिन शब्दों में और जैसी अधम भाषा में तथा जिस शैली से लिखी है वह उनकी पक्षान्धता एवं कलुषित हृदय की स्पष्ट द्योतक है । अपने को सर्वोच्च मानने वाले ऐसे दुरभिमानियों ने ही संसार में अनेक लड़ाइयां कराई हैं, धर्मका नाश किया है और समाज में विद्वेष उत्पन्न किया है । पांडे जी ने स्वयं निर्दोष रहने के लिये 'एक भाषा छन्द नाटक ग्रंथ' के आधार पर तेरह पन्थ की उत्पत्ति लिखी है । किन्तु न तो उस नाटक ग्रंथ का कोई नाम ही लिखा है और न प्रमाण । सम्भव है कि यह पांडे जी की या ऐसे ही किसी विद्वेषी हृदय की काली कृति हो । उन छन्दों को देखने से तो स्पष्ट मालूम होता है कि यह रचना किसी आ: निक कविमन्य अपढ़ एवं उच्छृंखल व्यक्ति की है । उन सब छन्दों का सार यह है कि—

१—यह मत प्रथम आगरा में सम्वत् १६८३ में चला और कुछ लोगों ने हठलेकर किसी पंडित से कुछ अध्यात्म ग्रंथ सुनकर श्रावक क्रियायें छोड़ दीं और मुनि पंथ पर चलने लगे ।

२—फिर कामा नगर में सनातनरीति को छोड़कर पापकारी रीति उसी के अनुसार ग्रहण की । और कितने ही आगरा व्यापारार्थ जाने वाले नया आचार देखकर अध्यात्मी बनने लगे ।

३—जैपुर के पास सांगानेर में एक ब्रह्मचारी अमरचन्द्र प्रतिदिन शास्त्र पढ़ता था और उसमें लोग आकर सुनते थे । उस में एक धन के अभिमानी अमरा भवसा ने जिनवाणी की अविनय की । इसलिये उसे श्रावकों ने मन्दिर में से निकाल दिया ! तब उसने लालच देकर १२ मूढ़ लोगों को अपने पक्ष में कर लिया । तथा कुछ नये पूजा पाठ रचकर १७७३ सम्वत् में यह पापजाल स्थापित किया ! और लोगों से मिलकर उसका तेरह पंथ नाम रख लिया । पीछे राजा के एक मन्त्री ने लोगों को डरा कर, धमका कर और लालच देकर यह पंथ फैलाया । मूढ़ लोग

उसके मर्म को नहीं समझे और गाड़रिया प्रवाह से वह पंथ नगरों में फैल गया।

मानत उसही ग्रंथ को अर्थ करत कछु और।
धर्म अधर्म गिने नहीं चलत अकलिके जोर॥ ३७॥

इस प्रकार से परस्परविरोधी त्रिविध उत्पत्ति बताकर फिर आगे पृ० ४६१ पर उसके प्रचार और मान्यताओं के विषय में इस प्रकार लिखा है—

५—कामा से एक चिट्ठी सांगानेर को लिखी गई। उसमें २७ बातों की मान्यतायें बताई गईं। और लिखा कि तुम भी इनका पालन करना। यह चिट्ठी सं० १७४२ फागुन सुदी १४ को दी गई थी।

६—इस प्रकार किसी कल्पित नाटक के आधार पर चर्चासागर के ६ पृष्ठ भरे हैं। और आगे पृ० ३६४ पर पाडे जी ने स्वयं लिखा है कि उसी समय (सं० १७४९ में) आगरा में पं० द्यानतरायजी, पं० बनारसीदास जी, पं० रूपचन्द जी, पं० चतुर्भुज जी, पं० कुमारपाल जी, पं० भगवती दास जी, हुये थे। उन्होंने श्रावकधर्म की गौणता करदी और अध्यात्म पक्ष मुख्य मान लिया। और अपने २ नाम प्रगट करने के लिये द्यानत विलास, बनारसी विलास, ब्रह्मविलास आदि ग्रंथ बनाये।

७—इसके बाद पृ० ४६५ में गुमानी पंथ की उत्पत्ति बता कर उसकी अनेक विवेकपूर्ण बातों की निन्दा की है।

समीक्षा—पाडेजी ने यह परस्पर विरोधी, निराधार और निन्दास्पद उत्पत्ति लिखकर अपने कलुषित हृदय की क्षुद्रता का परिचय दिया है। इसी तेरह पंथ को पहिले सं० १६८३ में चला बताया, फिर सं० १७७३ लिखा और बाद में सं० १७४२ में चिट्ठी लिखकर तेरह पंथ का प्रचार बताया है। पाँडे जी को इस ऐति-

हासिक (!) खोजपर दया आती है ! इसके अतिरिक्त अमरचन्द का मन्दिर से निकाला जाना और उनके द्वारा १२ मूर्खों को अपने साथ मिलाकर तेरह पंथ बनाना आदि कथन पांडेजी के नीच हृदय का परिचायक है।

पाडेजी ने जो तेरह पंथियों के विषय में लिखा है कि "धर्म अधर्म गिने नहीं चलत अकल के जोर" यह उनकी मूर्खता और विद्वेष का एक प्रमाण है। उन विचारे को धर्म अधर्म का भान ही कहां था ? उनने तो अपने विद्वेषी एवं कलुषित हृदय के उद्गार प्रगट कर दिये हैं !

सम्वत् १७४९ में आगरे में चिट्ठी पहुँचने के समय वहां पं० बनारसीदास जी, पं० द्यानतरायजी आदि का अस्तित्व बताना ऐतिहासिक अज्ञानता का नमूना है। कारण कि पं० बनारसीदास जी का समय १६९३ सं० से पूर्व का है। कारण कि उन्होंने सं० १६९३ के करीब तो 'अर्धकथानक' नामक ग्रंथ की रचना की थी। दूसरी बात यह है कि जो पं० बनारसीदास जी ने नाटक समयसार लिखा है उसका समय सं० १६९३ के आश्विन शुदी १३ रविवार को जैन साहित्य का भूषणस्वरूप समयसार बनाया था। यथा—

*सोरह सौ तिराणवै बीते। आसु मास सितपक्ष वितीते।*
*तेरसी रविवार प्रवीणा। ता दिन ग्रन्थ समापत कीना ॥३७॥*

इसके अतिरिक्त पं० बनारसीदास जी ने यह ग्रन्थराज नाटक समयसार उन पाँचों पण्डितों की सहायता से रचा था जिनको पाडेजी ने नगण्यसा बताते हुये उल्लेख किया है। पं० बनारसीदास जी ने अपने समयसार में अन्त में लिखा है कि—

*रूपचंद पंडित प्रथम, द्वितिय चतुर्भुज नाम।*
*तृतिय भगवतीदासनर, कोरपालगुणधाम ॥२६॥*

धर्मदास ये पंचजन, मिलि बैठहि इक ठौर।
परमारथ चरचा करैं, इनके कथा न और ॥२७॥

चर्चासागर में इन विद्वानों को १७४९ में बताया है और साँगानेर में तेरह पंथ १७७३ में चला बताया है। इसमें यह शंका सहज ही होती है कि जब १७७३ में तेरह पंथ चला तो इससे २४ वर्ष पूर्व पं० बनारसीदास जी आदि उसके प्रचारक कैसे हो गये? तेरह पंथ तो १६९३ के बहुत पहिले प्रचलित हो चुका था. कारण कि बनारसीदास जी की टीका के पहिले भी ज्ञानानन्द श्रावकाचार रांजमल जी कृत उसी जयपुरी भाषा में प्रचलित होचुका था जो तेरह पंथ का मुख्य-मान्य ग्रन्थ है। तब सम्वत् १७७३ से इसमें १०० वर्ष का अन्तर प्रतीत होता है।

हमें नवीनता और प्राचीनताका इतना पक्ष नहीं है जितना कि सत्य का। कारण कि नवीन और प्राचीन के साथ कोई दोष या गुण की व्याप्ति तो है ही नहीं। क्योंकि प्राचीन मिथ्यात्व दुखदाई और त्याज्य होता है जबकि नवीन मोक्ष या सम्यक्त ग्राह्य होता है। किन्तु यह सब इस लिये लिखना पड़ा है कि पाडे चम्पालाल ने पक्षान्ध होकर तेरह पंथ का इतिहास बिलकुल झूठ और परस्पर विरोधी एवं कषायपूर्ण लेखनी से लिखा है। उससे उत्पन्न हुये भ्रम को निवारण करना प्रत्येक समझदार का कर्तव्य है।

पांडे जी ने जो यह आक्षेप किया है कि 'पं० द्यानतराय जी आदि ने श्रावकधर्म की गौणता करके अध्यात्मवाद को मुख्य बना डाला।' यह वचन उपेक्षा या निन्दा के रूप में लिखे गये हैं। वास्तव में यदि उन्होंने अध्यात्म को उच्च स्थान दिया था तो भी ठीक ही था, कारण कि—

"निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ॥"

अर्थात् निश्चय ही भूतार्थ है,-सत्यार्थ है और व्यवहार तो मिथ्या है। "व्यवहारः खलु मिथ्या" इति वचनात्। किन्तु पांडेजी ने अध्यात्मवेत्ता उक्त विद्वानों की निन्दा करने की कुचेष्टा की है। फिर भी उन विद्वानों ने व्यवहार को गौण कब कर दिया था? यदि वे व्यवहार को नहीं मानते होते तो द्यानतराय जी इतने पूजा पाठ क्यों रचते? तथा द्यानतविलास में श्रावकाचार का कथन क्यों करते? इसके अतिरिक्त पं० रूपचन्द जी के पंच-मंगल तो सर्वत्र प्रचलित हैं, वे उनको क्यों बनाते? भैया भगवती दास ने ब्रह्म विलास में कई पाठ श्रावकाचार सम्बन्धी लिखे हैं, सो वे क्यों लिखते? पं० बनारसीदास जी के समयसार में प्रतिमाभक्ति स्तुतिके वाक्य पाये जाते हैं; तथा बनारसी विलास के सिंदूर प्रकरण में जिनपूजाका बड़ा भारी फल बताया है, यह सब श्रावक धर्म का कथन वे क्यों करते?

सच बात तो यह है कि पाडेजी ने मात्र विद्वेषी हृदय से इन अभूतपूर्व श्रावकरत्न विद्वानों की इरादा पूर्वक निन्दा करनेके लिये ही उनपर असत्यारोपण किया है। पांडे जी ने जो उस चिट्ठी की २७ बातों की निन्दा की है वह भी उनकी कलु-षित आत्मा का परिणाम है। कारण कि उनमें से कितनी ही बातें तो ऐसी हैं कि जो आगमसिद्ध हैं और उन्हें मान्य करना ही चाहिये। तथा कितनी बातें ऐसी मिलाई गई हैं कि जो न कभी तेरह पंथ में प्रचलित थीं और न हैं ही। पांडे जी ने मात्र द्वेष और कषायवश होकर व्यर्थ ही पृष्ठ काले किये हैं।

## शुद्धाम्नाय पर नीचतापूर्ण आक्रमण!

पांडे जी ने शुद्धाम्नाय तेरह पंथ के विषय में इतनी जघन्य भाषा का प्रयोग किया है और इतना नीचतापूर्ण आक्र-मण किया है कि जैसे एक क्रोधी मुसलमान किसी हिन्दू पर!

चर्चासागर के पृ० ४५९ पर जो २२, २३, २४ नम्बर के छन्द छोड़कर भाषान्तरकार या प्रकाशक ने स्थान खाली रहने दिया है वे तीन छन्द हस्तलिखित प्रति में पृ० ३२० पर इस प्रकार लिखे हैं—

केसरि जिनपद चरचिवो गुरु नमिवो जगसार ।
प्रथम तजी यह दोय विधि मन मद ठानि असार ॥२२॥
ताही के अनुसारि तैं फैल्यो मत विपरीत ।
सो साची करि मानिये झूठ न मानो मीत ॥२३॥
भट्टारक आमेर के नरेन्द्र कीर्ति नाम ।
यह कुपंथ तिनके समै नयो चल्यौ अघधाम ॥२४॥

इनको पढ़ कर पाठक समझ सकेंगे कि पाडे जी को तेरह पंथ के प्रति कितना द्वेष था। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह कथन बिलकुल झूठ है ही, मगर पाडेजी की हृदय कालिमा का भी पूर्ण परिचायक है। एक शुद्ध एवं सनातन मार्ग को विपरीत—उल्टा या अघधाम—पापों का घर—बताना कितने दुःखका विषयहै। निष्पक्षताकी डींग मारने वालों! तनिक इधर आखें खोल कर देखो। पांडेजी ने एक जगह नहीं, दो जगह नहीं किन्तु पच्चीसों जगह शुद्धाम्नाय—तेरह पंथ को खुली गालियाँ दी हैं। अब बताओ कि तेरह-बीस का झगड़ा कौन कराना चाहता है? इन मिथ्या आक्षेपों का निराकरण करने वाले या इस चर्चासागर के संयोजक, छपाने वाले और प्रचार करने वाले? आचार्य शान्तिसागर जी महाराज को भी तेरह पंथ से कितना अधिक द्वेष है यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता कि वे चर्चासागर का प्रचार करते हैं, उसे आगम ग्रंथ मानते हैं, यहां तक कि बीस पंथाम्नाय की अनेक क्रियायें तेरह पंथा-

म्नाय में चलाने का सतत प्रयास करते रहते हैं। उस पर भी गोबर पंथियों के पंडित लोगों का कहना है कि चर्चासागर के विरोधी झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं। यदि समाज में विवेक शक्ति हो तो चर्चासागर में तेरह पंथ की उत्पत्ति का प्रकरण पढ़कर देख ले कि वास्तव में द्वेषी कौन है?

## जिनाश्रमी का नग्न होकर भोजन पान!

चर्चा २४० पृ० ४६१ में पाडे जी ने एक विचित्र ही बात लिखी है। पहिले प्रश्न किया है कि "इस समय के जिनाश्रमी भोजन के समय वस्त्रों को उतार कर नग्न होकर भोजन पान करते हैं सो इसका क्या अभिप्राय है?"

इसका समाधान करने के लिये पांडे जी ने षट् पाहुड़ की एक गाथा देकर उसका अनर्थ कर डाला है। यथा—

*णिचेलपाणि पत्तं उव इट्ठ परमजिणवरिंदेहिं।*

*इक्कोवि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे॥*

अर्थ—भगवान अरहंतदेव ने उत्कृष्ट मोक्षमार्ग वस्त्र रहित नग्नरूप ही बताया है। इससे सिद्ध होता है कि मोक्षमार्ग नग्नरूप है। जो जिनाश्रमी व्रती होकर भी नग्न नहीं रह सकते वे भोजन के समय नग्न होकर भोजन करते हैं! और पाणिपात्र भोजन करते हैं। यही अभिप्राय है।

माननीय विद्वद्वर्ग! पांडेजी की इस उच्छृंखलता पर तनिक विचार करिये। भगवान कुंदकुंद स्वामी के वाक्यों का अनर्थ करके व्रती गृहस्थ या जिनाश्रमी को नग्न होकर पाणिपात्र में आहार लेना बताना कितनी अक्षम्य धृष्टता है? इस चर्चा से पाडे जी की मनोवृत्ति का पता स्पष्ट लग जाता है कि वे भट्टारकों के उपासक थे, वही उनके गुरु थे, और उन्हीं के रचे

हुये ग्रंथजाल उनका आगम था ! इसीलिये भट्टारकों को उच्च बताने के लिये कुंदकुंद भगवान की गाथा में से यह अर्थ निकाल डाला है !

वास्तव में बात यह है कि अनेक भट्टारक दिन रात तो चमकीले भड़कीले और बेश कीमती रेशमी वस्त्र पहिना करते थे और गृहस्थ के घर भोजन के समय नग्न होकर मुनित्व का ढोंग करते थे। उन्हीं की इस मायाचारी को शास्त्रसिद्ध करने के लिये पाडे जी ने यह जाल रचा है। इसी प्रकार पहिले भी पांडे चम्पालाल ने १० प्रकार के नग्नों को गिनाते हुये गरुवा वस्त्र वालों को नग्न लिखा है ! पाडे जी की दृष्टि में उन वेषी भट्टारकों का पद दिगम्बर मुनि के ही समान था। अब पाठक उस मूल गाथा को देखें और उसके अर्थपर विचार करें कि वह पाँडे जी के मन्तव्य को कहां तक पुष्ट करती है ! यह षट् पाहुड़ के सूत्र-प्राभृत की १० वीं गाथा है। पृ० ६१ पर मय टीका के वह इस प्रकार लिखी गई है—

*णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।*

*एक्कोवि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥*

*टीका—णिच्चेलपाणिपत्तं—निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः पुटे भोजनमुक्तं। उवइट्ठ परमजिणवरिंदेहिं—उपादिष्टं परमाजिनवरेन्द्रैस्तीर्थंकरपरम देवैः। एक्को हिमोक्खमग्गो—एक एव मोक्षमार्गो निर्ग्रन्थलक्षणः। सेसाय अमग्गया सव्वे—शेषा मृगचर्मवल्कलकर्पासपट्टकूल रोम वस्त्रतट्टगोणीतृणप्रवरणादि, नर्वरक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विश्वे, अमार्गाः ससारपर्यटनहेतुत्वात्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यम् ॥*

अर्थात्—दिगम्बर मुनि को पाणिपात्र में आहार लेना

जिनेन्द्रभगवान ने कहा है। यह एक ही निर्ग्रन्थलक्षण मोक्ष-मार्ग है। बाकी सब अमार्ग हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह गाथा दिगम्बर मुनि के लिये ही कही गई है और दिगम्बर मुनि के प्रकरण में भी यह गाथा लिखी है। फिर समझ में नहीं आता कि पाडे जो ने इसे गृहस्थ, जिनाश्रमी या भट्टारकों के लिये कैसे लिख डाली। यह एक ही गाथा नहीं किन्तु ऐसे अधिकाश प्रमाण चर्चासागर में भरे पड़े हैं कि जिनका या तो अर्थान्तर किया गया है, या वे पलट दिये गये हैं अथवा उन्हे किसी प्रकरण में से उठा कर असंबद्ध होने हुये भी जोड़ा है और भट्टारकभक्त पांडेजी एक ग्रंथकार बन बैठे हैं।

क्या आचार्य शान्तिसागर जी, उनका संघ तथा अन्य चर्चासागर भक्त चर्चासागर के ऐसे कथनों को प्रमाण मानते हैं ? अगर नहीं तो फिर इस विष-मिश्रित दूध को फेंक ही क्यों नहीं देते ? इसे जैनशास्त्र का रूप देकर समाज को धोखे में क्यों डाला जाता है ? क्या ऐसा परस्पर विरोधी और अन्यथा कथन करने वाला जैनशास्त्र हो सकता है ?

## पाँडे जी का सैद्धान्तिक अज्ञान !

चर्चा २४८ पृ० ४६८—में धर्म ध्यान के भेदों को बताते हुये लिखा है कि "ऊपर जो धर्म ध्यान के भेद लिखे हैं वे किस २ गुणस्थानमें होते हैं ?" समाधान में आपने लिखा है कि "यह धर्म ध्यान असंयत नाम के चौथे गुणस्थान से लेकर प्रमत्त संयत नाम के छठे गुणस्थान तक होता है। छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों के उत्कृष्ट धर्मध्यान होता है। चौथे गुणस्थान में रहने वाले के जघन्य होता है। दूसरी प्रतिमा से लेकर ग्या-रहवीं प्रतिमा तक मध्यम होता है।" यह कथन इतना विपरीत

है कि जो आचार्यों के वाक्यों में भी विरोध डालता है। साथमें आश्चर्य तो इस बात का है कि ग्रन्थकर्ता जिसका प्रमाण देते हैं वह उनकी समझ में भी तो नहीं आया। फिर भी न जाने ऐसा लिखने का कष्ट क्यों उठाया गया ! जितनी बुद्धि हो उतना ही लिखना ठीक होता है। अब इनके दिये हुए प्रमाण की ओर पाठकों का चित्ताकर्षित करता हूँ। प्रमाण सारचतुर्विंशतिका का दिया है। यथा—

चतुर्थाद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषु जायते।
लेश्यात्रयबलाधानं धर्मध्यानं सुधीमताम् ॥३०॥
सर्वोत्कृष्टमिदं ध्यायेदप्रमत्तो मुनीश्वरः।
सद्दृष्टिश्च जघन्यं वै मध्यमं बहुधा व्रती ॥३१॥

अर्थ—इसका वास्तविक अर्थ यह है कि चतुर्थ गुणस्थान को आदि लेकर अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान तक तीन लेश्याओं के बलसे धर्मध्यान होता है। अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में उत्कृष्ट धर्मध्यान होता है। चौथे गुणस्थान में जघन्य, पांचवें गुणस्थान में मध्यम होता है। श्लोक का अर्थ तो ऐसा है, परन्तु पांडे जी कुछ और ही लिख रहे हैं। समझमें आता है कि संधि तोड़ना भी शायद इनको याद नहीं था और इसीलिये "चतुर्थाद्यप्रमत्तान्त" 'ध्यायेदप्रमत्तो' का अर्थ न समझकर अप्रमत्त की जगह प्रमत्त लिख मारा और वह ऐसा हो गया कि "चौबेजी गये थे छब्बेजी बनने और रह गये दुबे जी"। क्या अब भी इनके अनुयायी विद्यावारिधि और सिद्धांत शास्त्रीयता का दावा रखनेवाले पं० मक्खनलाल जी आदि यही कहेंगे कि ये लिखना भी आगमानुकूल है और सर्वज्ञका वचन है ? मुझे तो विश्वास होता है कि अब वे पर्वत सरीखे वचन पक्षको ग्रहण नहीं करेंगे और ठिकाने पर आजायँगे। सुबह का भूला

यदि शाम को भी घर आजाता है तो उसे भूला हुआ नहीं कहते, ऐसी लोकोक्ति है। व्यर्थ असत् पक्ष लेने में गुण के नष्ट होने के सिवाय और कुछ भी नही है।

धर्मध्यान सातवें में होता है उसका और भो प्रमाण सर्वार्थसिद्धि संस्कृत छपी हुई पृ० २६४ अ० ९ सूत्र ३७ वें की वृत्ति में लिखा है "श्रेण्यारोहणात् प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले" अर्थात्—श्रेणी के आरोहण करने के पहिले धर्मध्यान श्रेणी में शुक्लध्यान होना है। तथा श्रेणी सातवें से माडी जाती है, अतः धर्मध्यान सातवें में होना स्पष्ट है। यहांपर सम्पादकजी ने अपना नोट ज़रूर लगाया है। उसमें सिर्फ़ श्लोकका अर्थ कर दिया है और ग्रंथकर्ता की मान्यता जैसी की तैसी रहने दी है। इसके सिवाय यदि नोट में इतना ही लिख दिया जाता कि यह अर्थ ग़लत व अशुद्ध है तो भी ठीक रहता, मगर ऐसा लिखने में शायद इनको पांडे जी के आगम (!) के खण्डन करने का दोष आता होगा!

( जैन मित्र अंक ११ वर्ष ३३ )

## सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन की मनाई।

चर्चा २४६ पृ० ५००—में पाँडे जी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि गृहस्थ, क्षुल्लक, ऐलक और अर्जिका को भी सिद्धान्त ग्रंथ नहीं पढ़ना चाहिये। आप लिखते हैं कि "सिद्धान्त ग्रंथों के रहस्य का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना आदि का अधिकार पांचवें गुणस्थान में रहने वाले देशव्रती श्रावक को नहीं है!" इसमें प्रमाण दिया गया है वसुनन्दि श्रावकाचार का। अध्ययन करना तो दूर रहा किन्तु बांचने और सुनने की भी मनाई की गई है। पांडेजी ने इसकी सिद्धी के लिए करीब ३० श्लोक प्रमाण में दिये हैं। मगर उनमें से २-३

श्लोकों को छोड़ कर बाकी एक भी श्लोक श्रावक को सिद्धान्त ग्रंथ के स्वाध्याय की मनाई नहीं करता है। जिसे थोड़ा भी संस्कृत का ज्ञान होगा वह इन श्लोकों को एक वार ध्यान से देख जावे तो उसे मालूम हो जायगा कि पाडेजी ने अपने अभ्यस्त छल से काम लिया है।

उन श्लोको में से २-३ श्लोक जो कि पांडे जी का स्पष्ट समर्थन करते हैं वे ग्रंथ हमारे सामने नहीं हैं। अन्यथा उनकी भी पोल मालूम हुये विना नहीं रहती। पाठक देख चुके हैं कि पाडे जी ने कितनी ही जगह अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये श्लोक और गाथाओं तथा उनको बदल देने में तनिक भी दया नहीं खाई है। प्रकरण और संबंध पलट देने की चतुराई तो पांडे जी के वांये हाथ का खेल है। उदाहरण के लिये पृ० ५०१ पर लिखी गई कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा लीजिये। पांडे जी ने उसे स्वाध्याय की निषेधक वताया है। वह रयणसार की ११ वीं गाथा है। यथा—

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणातहासोवि ॥११॥

अर्थात्—श्रावक धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं। उसके विना श्रावक नही है। तथा ध्यान और अध्ययन करना यति धर्म में मुख्य है। उसके विना मुनि नहीं हो सकता।

यहाँ पर श्रावक धर्म और मुनि धर्म के मुख्य कर्तव्य दान-पूजा तथा ध्यान और अध्ययन वताये गये हैं। यदि इस सापेक्ष कथन को अपने स्वार्थ के लिये इकतरफा लगाया जाय तव तो वड़ा अनर्थ हो जायगा। यदि दान पूजा के विधान से पाडे जी स्वाध्यायका निषेध समझते हैं तव तो ध्यान और अध्ययन से मुनियों के २८ मूलगुणों का भी निषेध क्यों न समझ

लिया जाय ? वास्तव में पांडे जी की विपरीत बुद्धि पर हमें बड़ी दया आती है ! वे अपने स्वार्थ के खातिर "देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः" आदि जैनाचार्य के सुप्रसिद्ध श्लोक को भूलगये हैं, जिसमें स्वाध्याय करना भी श्रावक का मुख्य धर्म बताया गया है।

आश्चर्य तो यह है कि पाडे जी ने श्रावक को स्वाध्याय का निषेध करते हुये भी चर्चासागर बनाया है, उसमें अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रमाण दिये, यहा तक कि जिस गाथा से वे स्वाध्याय का निषेध कर रहे हैं वह रयणसारादि सिद्धान्त ग्रंथों की ही है। क्या पाडे जी गृहस्थ नहीं थे ? यदि गृहस्थ थे तो उन्होंने अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों की स्वाध्याय कैसे की ?

सच बात तो यह है कि कुछ समय से जैनसमाज की लगाम कुछ ऐसे स्वार्थी और भोजनभट्ट भट्टारकों के हाथ में रही है जो अपनी प्रतिष्ठा कायम रखना चाहते थे और स्वयं जैनियों के गुरु बने रहकर श्रावकों को मूर्ख रखना चाहते थे। इसीलिये स्वाध्याय जैसे महान् कर्तव्य की मनाई करदी। अन्यथा किसी भी आर्ष ग्रंथ में गृहस्थों को स्वाध्याय करने की मनाई नहीं है, प्रत्युत कई जगह स्पष्ट समर्थन पाया जाता है। यथा—

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराण पर्व ३९ में श्रावकों के लिये क्रियाओं का वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा।
पूजोपवाससपत्या शृण्वतोऽगार्थसंग्रहम् ॥ ४९ ॥
ततोऽन्या पुन्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबंधिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥५०॥

अर्थ—पूजा और उपवासरूप संपत्तिको धारणकर ग्यारह

अंगों के अर्थ समूह को सुनने वाले श्रावक के पूजाराध्यनामक पांचवीं प्रसिद्ध क्रिया होती है।

तदनंतर अपने साधर्मी पुरुषों के साथ चौदह पूर्वों का अर्थ सुनने वाले श्रावक के पुण्य बढानेवाली पुण्ययज्ञ नाम की छठी क्रिया होती है।

यह तो हुआ श्रावकों के पढ़ने सुनने का अधिकार। अब आर्यकाओं का अधिकार भी देख लीजिये-मूलाचार के पंचाचाराधिकार में वट्टकेरस्वामी ने लिखा है कि—

*तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पादि विरद इत्थिवग्गस्स ।*
*एत्तो अरणो गंथो कप्पादि पढिदुं असज्झाए ॥८१॥*

अर्थ—वे चार प्रकार के अंग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, रूप, सूत्र, कालशुद्धि आदि के विना संयमियोंको तथा आर्यकाओंको नहीं पढ़ने चाहियें। इनसे अन्य ग्रंथ कालशुद्धि आदि के न होने पर भी पढने योग्य माने गये हैं। इसमें आर्यकाओं को कालशुद्धि आदि के होते हुये अंग पूर्वादि ग्रन्थों के पढ़ने की आज्ञा दी गई है। हरिवंश पुराण के १२ वें सर्ग में भी लिखा है कि—

*द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी ।*
*एकादशागभृज्जाता स्यऽर्यिकाऽपि सुलोचना ॥*

जयकुमार द्वादशागधारी भगवान का गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंग की धारिका आर्यिका हुई ॥ ५२ ॥

इन उल्लेखों से उन लोगों का भी समाधान हो जाता है जो श्रावकों के लिये प्रचलित सिद्धात-ग्रंथों के पढ़ने सुनने का तो अधिकार बताते हैं किन्तु गणधरकथित अंग पूर्वादि ग्रन्थों के अध्ययन का निषेध करते हैं, उन्हें अब अपनी उस मिथ्या धारणा को निकाल देना चाहिये। कहते

है कि नेमिचन्द्राचार्य ने चामुण्डराय के सामने सूत्रपाठ करना बन्द कर दिया था और पूछने पर कहा था कि श्रावकों को सुनने का अधिकार नहीं है इत्यादि कथायें काल्पनिक मालूम होती हैं। जहां श्लोक और गाथा तक मिथ्या रचली जाती है वहा ऐसी कथाओं को गढ़ते कितनी देर लगती है? ऋषि-वाक्यों के सामने ऐसे कथन कदापि प्रमाण नहीं माने जासकते। जिन सिद्धान्त ग्रन्थों के बदौलत ही जैनधर्म का गौरव है उनका पठनपाठन बन्द करना भी क्या कभी उचित कहा जासकता है? यहा तो मूलभूत सम्यग्दर्शन ही तत्वार्थ श्रद्धान से होता है। मजा तो यह है कि-गोम्मटसार, लब्धिसार, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि महाग्रन्थों के रचयिताओं ने जब कहीं भी यह नहीं लिखा कि हमारे इस ग्रन्थ को श्रावक पुरुष न पढ़ें तब ये दूसरे निषेध करने वाले कौन होते हैं? प्रत्युत विद्यानन्द स्वामी ने तो अपने अष्टसहस्री ग्रन्थ के अन्त में कहा है कि-मेरे इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकार कल्याणेच्छु भव्यों के लिये नियत है। इससे अध्ययन का मार्ग कितना विशाल हो जाता है? चामुण्डराय कृत चारित्रसार शीलसप्तक प्रकरणके 'स्वाध्याय-स्तत्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च' वाक्य से स्वाध्याय का लक्षण ही तत्वज्ञान का पढ़ना पढ़ाना और चिंतवन करना किया है और जो ख़ासकर ऐसा स्वाध्याय श्रावकों के षट्कर्म में प्रतिपादन किया गया है। क्या तत्वज्ञान से सिद्धांत भिन्न है? यह तो निश्चित है कि-देशनालब्धि देशव्रती तो क्या अव्रती तक के होती है। उसी देशनालब्धि का स्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र ने लब्धिसार में यों कहा है—

छद्दव्वणवपयत्थो देसयरसूरिपहुदिलाहो जो ।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥

अर्थ—छहद्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश करने वाले आचार्य आदि का लाभ यानी उपदेश का मिलना और उनकर उपदेशे हुये पदार्थों के धारण करने ( याद रखने ) की प्राप्ति वह तीसरी देशनालब्धि है।

ग्रन्थाध्ययन का निषेध करना एक ऐसी निर्मूल और अयुक्त बात है कि जिसकी पुष्टि किसी भी परमागम से नहीं होती है। और तो और, ख़ास समवशरण में ही भगवान की दिव्यध्वनि को तिर्यंच तक श्रवण करते हैं। क्या कोई कह सकता है कि केवली की दिव्यध्वनि में द्वादश सभा के समक्ष सिद्धान्त विषयक उपदेश नहीं होता है? यदि कहो कि—"सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार हो तो भले हो किंतु श्रावकों को अध्यात्म ग्रन्थों के पढ़ने का तो अधिकार नहीं है, सो भी ठीक नहीं है। जिनसेन स्वामी ने पंद्रहवीं व्रतचर्या क्रिया का वर्णन करते हुये पर्व ३८ में कहा है कि—

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् ।
विनयेन ततोन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥

अर्थ—इसे प्रथम ही गुरुमुख से उपासकाचार पढ़ना चाहिये और फिर विनय पूर्वक अन्य अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये।

कुछ भी हो, किसी ग्रन्थ के अध्ययन की मनाई करना बिल्कुल निःसार है। इसकी अनुपयोगिता का तो ख़ासा प्रमाण

यही है कि इस समय इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। (दिगम्बर जैन वर्ष २३ अङ्क १-२)

पांडे जी पृ० ५०१ पर लिखते हैं कि "सिद्धान्त ग्रन्थ तो चौथे काल में थे; इस समय पंचम काल में उनका अभाव है। इस समय में जो सिद्धान्त ग्रन्थ मिलते हैं उन्हीं का यहां निषेध है।"

देखा! पांडे जी श्रावकों को कितना मूर्ख रखना चाहते थे। यदि पांडे जी आज होते और वे स्वयं गोबरपंथियों के साथ मिलकर चर्चासागर का प्रचार करते तो जैनधर्म का नाश हुये बिना न रहता। वर्तमान में जो भी जैनधर्म का अस्तित्व है वह स्वाध्याय का ही परिणाम है। अन्यथा कौन जानता था कि जैनधर्म क्या चीज़ है? यदि आज स्वाध्याय का प्रचार न होता तो पांडे जी के चर्चासागर और भट्टारक सोमसेन के त्रिवर्णाचार जैसे महा अनर्थकारी ग्रन्थों की ख़ासी मान्यता हो जाती है और अभी जो कुछ भी अंधभक्त इनको मान रहे हैं, यह सब ऐसे ही स्वाध्याय-निषेधक महापुरुषों (!) की कृपा का फल है।

आज संसार सत्य की ओर जा रहा है। जगत सत्य की खोज में है और विवेकी जन सत्य के प्यासे हैं। इसीलिये जैन सिद्धान्त का जगत में प्रचार करने की आवश्यकता है। हर्षका विषय है कि कुछ समय से जैनसमाज में स्वाध्यायका प्रचार बढ़ रहा है, विद्यालयों में सैद्धान्तिकग्रन्थों का अध्ययन होता है और अनेक स्थानों पर शास्त्र सभायें स्थापित हैं। यही एक प्रबल प्रमाण है कि पांडे जी की सिद्धान्ताध्ययन की मनाई का कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तक कि चर्चासागर के परम अनुयायी पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार स्वयं जैनसिद्धान्त शास्त्री हैं और वे छात्रों को सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन कराते हैं।

अब वह ज़माना गया जब भट्टारकों की जीहुज़ूरी में समाज ने अपना सर्वनाश किया था, अब वह समय नहीं है कि लोग आंखें बन्द करके स्वार्थियों के चक्कर में आ जावेंगे। अब तो सत्यका समय है। यहां तो जो परीक्षा में पूरा उतरेगा वही टिक सकेगा! और जो जांचकी आँच सहन नहीं कर सकता उसे मानने को कोई तैयार नहीं होगा।

भलेही स्वार्थी लोगों ने चर्चासागर को अपना हथियार बनाकर पाखण्ड प्रचार करना चाहा हो, भले ही उसे आगम ग्रंथ कह कर समाज को भ्रम में डालना चाहा हो और भले ही उसे संग्रह ग्रंथ बताकर भोले लोगों को भ्रमाया जाता हो, मगर उसकी काफ़ी पोल खुल चुकी है, समर्थकों की कुयुक्तियों का पता भी नहीं रहा और उसे आगम बताकर तूफ़ान मचाने वाले न जाने अब कहां जा बैठे हैं। यही चर्चासागर के पराजयका स्पष्ट प्रमाण है। माननीय जैन समाज! अब आँखे खोल, सत्यको पहिचान और धर्मात्मा एवं आगम के वेष में लूटने वालों से सावधान रहकर विवेक बुद्धि से काम ले। तेरी अंधश्रद्धा ने पवित्र जैनधर्म पर कलंक लगाया है, समाज का नाश किया है और आत्मा को गिरादिया है। अब भी समय है, तू सम्हल जा और अपने सच्चे रक्षकों की पहिचान कर!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
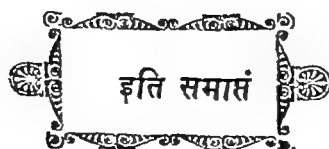
# चर्चासागर पर माननीय सज्जनों की सम्मतियां !

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुराग्रही, स्वार्थी या पक्षान्ध पुरुषों के अतिरिक्त किसी भी विद्वान्, श्रीमान् या पञ्चायत की सम्मति चर्चासागर जैसे गन्दे ग्रन्थ के अनुकूल नहीं हो सकती ! जैनसमाजके अनेक उद्भट विद्वानों, सुप्रसिद्ध श्रीमानों और विवेकिनी पञ्चायतों ने चर्चासागर के विरोध में अपनी स्पष्ट सम्मतियां घोषित की हैं । कई स्थानों पर चर्चासागर अग्नि में स्वाहा कर दिये गये हैं, कितनी ही जगह उन्हें जलमग्न किया गया है और अनेक स्थानों पर वे शास्त्र भण्डार से निकाल कर सदा के लिये तहखानों में डाल दिये गये हैं ! उन सबका संपूर्ण विवरण स्थानाभाव से यहां देना अशक्य है, इसलिये कुछ विशेष सज्जनों और पंचायतों की सम्मतियों का सार ही यहां प्रगट किया जाता है ।

स्याद्वाद वारिधि न्यायालङ्कार पं० वंशीधर जी जैन सिद्धान्त शास्त्री प्रधानाध्यापक स्व० हु० महाविद्यालय इन्दौर लिखते हैं कि—चर्चासागर आद्योपान्त देखा, अक्षरशः पढ़ा; इसमें देवी देवताओं की पूजा, रात्रि पूजा, बैठ कर पूजा गोमय नीराजन, गोदान, पितृतर्पण, तथा ऐसी ही अनेक मिथ्यात्वपोषक और शिथिलाचार समर्थक बातों का समर्थन किया गया है । समर्थन करते समय बहुत से आधुनिक पक्षपातग्रसित लोगों के रचे हुये ग्रन्थों के ही प्रमाण

दिये हैं। जहा कहीं प्राचीन एवं आचार्यों के वाक्य दिये हैं वे पाठपरिवर्तन कर या किसी प्रकरण के किसी प्रकरण में लागू कर दिये हैं। हिन्दुओं के साथ अपने को भी हिन्दू जतलाने के लिये कुछ तात्कालिक जैनों ने हिन्दुओं की क्रियाओं को अपनाने के लिये हूबहू जैन ग्रन्थों में भी उन्हें लिखकर अनुकरणीय वतला दिया है। यथार्थ में वे जैनसिद्धान्त-मान्य नहीं हो सकतीं ! इत्यादि।

श्री० न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी अधिष्ठाता स्याद्वाद महाविद्यालय काशी लिखते हैं कि—

मेरी तो ऐसे ग्रन्थों के पढ़ने में रुचि नहीं भी होती, जिसके द्वारा सिद्धात को वाधा पहुँचे। उसमें तेरापंथ के पण्डितों पर निष्प्रयोजन आक्षेप किये गये हैं। मेरी तो जयपुरादि निवासी भाषाकारोंमें यहां तक श्रद्धा है कि यदि वह गोमट्टसार, समयसार, पद्मपुराण, द्यानतविलासादि भाषा मय शास्त्र न वनाते तो आज हम जैनसिद्धान्त से च्युत हो जाते, केवल पद्मावतीदेवी आदि के ही उपासक रहते। प्रायः देखने में ही आता है कि जहा पर इन विद्वानों के भाषा ग्रन्थों का प्रचार नहीं वहा के अधिकारी जैनी केवल कर्मकाड ही को जैनधर्म समझ रहे हैं।

श्रीमान् न्यायाचार्य तर्करत्न सिद्धान्तमहोदधि पं० माणिकचन्द्र जी सहारनपुर लिखते है कि—चर्चासागर में समीचीन शास्त्र के आप्तोपज्ञता, अनुल्लंघ्यता, दृष्टेष्टताविरोध, तत्वोपदेशना, सर्व जीव हितकारकत्व, यह लक्षण नही पाये जाते हैं। इस वात के कितने ही प्रमाण दिये जा सकते हैं कि शिथिलाचारी जैनाभास और जैनधर्म के परम विद्वेषी प्रचण्ड राजवर्ग या स्वधर्म प्रचाराग्रही साक्षर राक्षस पण्डितोंने समी-

त्रीन शास्त्रों में भी कचित सर्वज्ञोक्त आर्ष आम्नाय के प्रतिकूल मूढ़तावर्धक प्रकरणों का सन्निवेश कर दिया है !

विषम परिस्थिति होजाने पर यदि कुछ दिनों के लिये भट्टारकों के उपकारों द्वारा जैनधर्म प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका कहा जाता है, तो तेरहपंथ संप्रदाय के विद्वानों ने भी श्री जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों की रक्षा कर श्री जैनधर्म का गौरव बढ़ाया है, यह तत्त्व मान्य किया जा सकता है।

गाय भैंस बकरी हथिनी को एकसा तिर्यंच मानने वाले और गाय में तेतीस करोड़ क्या एक भी देव के निवास का श्रद्धान नहीं रखने वाले, व्यवहार धर्मवाले जैनों का भी इतना पतन नहीं होना चाहिये, जिससे कि गोबर को सर्वतो भावेन पवित्र मानकर श्री जिनमंदिर में या साक्षात् अर्हंत्रूप जिन-बिम्ब के सन्मुख आरती उतारने में स्थान दिया जाय। सो भी अष्टकर्मों का ध्वंस करने के लिये ! खेद !!!

विद्यावारिधि जैनदर्शन दिवाकर पं० चम्पतराय जी जैन बैरिष्टर लिखते हैं कि—चर्चासागर के संबन्ध में जो कुछ मैंने पढ़ा है उससे मालूम होता है कि यह मूर्खों की कृति है और यह निश्चय है कि जो इसके समर्थन के लिये प्रयत्न करते हैं वे तो और भी मूर्ख हैं। निश्चय ही किसी भी प्रकार के भ्रमात्मक विचारों से जैनधर्म का सामंजस्य कदापि नहीं हो सकता और न जैनधर्म यही कल्पना कर सकता है कि परमपूज्य भगवान की गोबर से आरती करने से आत्मा को पुण्यबंध होता है या आसनों का रंग पुण्य या पाप के परिमाण में कमोवेशी कर सकता है। किसी व्यक्ति विशेष का कर्म—भले ही वह पापिष्ट (पापमय) हो अथवा न हो—उसके परिजनों को हानिकारक होसकता है, यह धारणा (मत) तो जैनधर्म के सर्वथा प्रति-

कूल है। सर्वज्ञ भगवान महावीर का अथवा उनके सच्चे अनुयायियों का उपदेश तो यह कदापि नहीं हो सकता। जिन लोगो ने यह चर्चासागर सरीखा ग्रन्थ प्रकाशित करने की धृष्टता की है उनकी शोचनीय मूर्खता का आपने दिग्दर्शन कराया है, यह अच्छा किया है।

श्रीयुत् पं० गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ कलकत्ता, लिखते हैं—मुझे इस ग्रन्थ में बहुतसी बातें मूल आम्नाय के विरुद्ध और भ्रांतिमूलक दीख पड़ीं। हिन्दू शास्त्रों में जिन आडम्बरों को प्रधानता दी गई है इसमें भी उन्हें प्रधानता देने में कमी नहीं की। गृहस्थ और मुनि दोनो के प्रायश्चित विधानमें इन्हें शिथिलाचारी बनाकर डुबाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी है। तेरहपंथ आम्नाय को बड़ी क्रूरता से कोसा गया है। दि० जैन सम्प्रदाय में इस ग्रंथ की सत्ता रहने से श्री मूलसंघ के सिद्धान्तों की रक्षा नहीं हो सकती। हमारी संप्रदाय में यह ग्रंथ शास्त्ररूप से कतई स्थान नहीं पा सकता।

श्रीमान् पं० पन्नालाल जी गोधा उदासीन आश्रम इन्दौर से लिखते हैं कि—यह चर्चासागर जैन आर्ष ग्रन्थों के बिलकुल विरुद्ध है और मिथ्यात्व का पोषक है।

श्रीमान् व्याख्यान वाचस्पति आदि अनेक अलंकार संयुक्त पं० लक्ष्मीचन्द्र जी लश्कर से लिखते हैं कि इस चर्चासागर ग्रंथ में विपरीत कथन बहुत है। जैसे कि दिगम्बर मूर्ति को माला मुकटादि द्वारा श्वेताम्बर बनाना, श्राद्ध तर्पण, गौदान, गोबर से आरती आदिक। इसलिये शुद्ध श्रद्धानी तो इस ग्रन्थ को स्वप्न में भी नहीं मानेंगे। अगर किसी को कुछ पूछना हो तो मेरे पास पत्र लिखने की कृपा करें।

पं० कैलाशचंद जी शास्त्री काशी—ऐसे ग्रन्थों का जो समाज में अशांति और अधर्म का बीज बोते हैं प्रकाशन करना, यह जैनधर्म का दुर्भाग्य है।

पं० मक्खनलालजी प्रचारक अनाथालय देहली—मीठे लड्डुओं में थोड़ासा ज़हर हो तो प्राण ही हरेगा, इसी प्रकार चर्चासागर की कुछ चर्चायें धर्मविरुद्ध हैं। या तो जल प्रवाह कर देना चाहिये या उसके ऊपर लिख देना चाहिये कि यह धर्मविरुद्ध है इसका कोई श्रद्धान न रखे।

व्याख्यानवाचस्पति पं० लच्मीचंद जी लश्कर—जिस शास्त्रमें श्री जिनेन्द्रदेव की गोबर से पूजा का विधान लिखा हो वह झूठा है! झूठा है!! झूठा है!!!

पं० मिलापचंद जी साहब कटारिया केकड़ी—जिनकी दृष्टि पारमार्थिकता की ओर न होकर आडम्बरों की तरफ़ झुकी है, उनकी कलम से तो चर्चासागर जैसा गंदासागर ही लिखा जा सकता है। आश्चर्य तो यह है कि कुछ कूढ़मगज़ वाले उसका भी समर्थन करने चले हैं।

साहित्यशास्त्री विद्यालंकार पं० बटेश्वरदयाल जी देवबंद—एक तो जैनसमाज ढोंग की ओर यों ही बही जारही है, तिस पर चर्चासागर जैसे आगमविरुद्ध ग्रंथ और भी रसातल की ओर लेजाने में सहायक होंगे। हम आपके साहस और उत्साह की सराहना करते हैं।

श्री० बा० ज्योतिप्रसाद जी जैन सं० जैनप्रदीप देववंद लिखते हैं कि—इसकी चर्चायें घृणोत्पादक और मिथ्यात्व-पोषक हैं। आश्चर्य है कि ऐसे गन्दे साहित्य का प्रचार मेरे धर्मप्रेमी क्यों कर रहे हैं? गोबर से भगवान की आरती

उतारना, पितरों का तर्पण, गौदान देना और शुद्धि एवं प्राय-श्चित्त प्रकरण को देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ। इससे भी अधिक दुःख तो इसका हुआ कि इसके प्रचारक और पढ़ने का आदेश करने वाले धर्मधुरन्धर (!) पण्डित त्यागी और वैरागी हैं! चर्चासागर पवित्र जैनधर्म के लिये महान कलंकरूप है। जैनियों को इसका संपूर्ण बहिष्कार करना चाहिये।

श्रीमान् पं० महबूबसिंह जी सर्राफ़ देहली (ला० हुक्मचंद जगाधरमल वाले) सूचित करते हैं कि—जब तक रतनलाल जी झांझरी का विज्ञापन नहीं छपा था उससे पहले कभी उस चर्चासागर ग्रंथ के पढ़ने का मौक़ा नहीं मिला। उस विज्ञापन को पढ़कर मुझे भी बहुत बुरा मालूम हुआ, जिससे मैंने पं० मक्खनलाल जी पं० खूबचन्द जी पं० इन्द्र-लाल जी पं० देवकीनन्दन जी आदि विद्वानों को वह विज्ञापन भेजे कि इसका उत्तर अवश्य दो और उसी रोज़ यह ग्रंथ मैंने श्री मन्दिर जी कूचा सेठ और जो मेरे पास प्रचार के वास्ते दिए हुए थे वे क्षुल्लक ज्ञानसागर जी के पास भेज दिए, अपने पास नहीं रक्खे। यदि पहले ऐसा लेख इसमें मालूम होता तो मैं कभी नहीं तक्सीम करता और न मैं इसके पक्ष में हूँ!

जियागञ्ज मुर्शिदाबाद से श्रीयुत् फुलेन्द्रकुमार जी जैन लिखते हैं कि चर्चासागर (भ्रष्टाचार) का खण्डन करने वाला जैनमित्र है जबकि जैनगजट और जैन बोधक शिथिला-चारके पोषक हैं। इन पत्रों को न मंगाकर जैनमित्र ही मंगाना चाहता हूं।

श्रीयुत लक्ष्मीचंद जी जैन भारतभूषण एजेंसी बम्बई ने चर्चासागर के विरोध में क़रीब १००

दस्तखत करा के एक लम्बा पत्र भेजा है, जिसमें रा० ब० सेठ चंपालाल जी रामस्वरूप जी, सेठ रामलाल जी चक्सी, सेठ मोहनलाल जी सच्छी, सेठ मानमल जी कासलीवाल आदि गण्य मान्य सज्जनों के नाम हैं। बम्बई की धार्मिक पञ्चायत चर्चासागर का पूर्ण विरोध करती है। जब कि पंडित रामप्रसाद जी और निरञ्जनलाल जी आदि ३-४ आदमियों की मण्डली स्वयं ही धर्मरक्षिणी सभा बनकर इस भ्रष्ट ग्रन्थ का समर्थन करती है। खेद !

पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुल्तान—यह ग्रंथ अनेक अंशों में दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध है। अतएव दिगम्बर सम्प्रदाय के लिये प्रमाणरूप नहीं हो सकता।

पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री—संपादक खण्डेलवाल जैन हितेच्छु पहिले भट्टारक नामधारी रक्तांवरियों तथा उनके शिष्यों ने कर्मकाण्ड में ही पड़कर पदार्थ की शुद्धता का विचार छोड़ प्रमाद से अनाप सनाप चीज़े अष्ट द्रव्य में चढ़ाना शुरू करदीं ( इस प्रकार आप चर्चासागर के कथनों को अप्रमाण मानते हुये भी गुरु के ख्याल से कभी २ लुढक भी जाते हैं )।

व्याख्यानवाचस्पति पं० देवकीनन्दन जी जैन सिद्धान्त शास्त्री कारञ्जा—इस ग्रन्थ की चर्चाओं का आधार प्रायः त्रिवर्णाचार है, अतः यह ग्रन्थ आर्ष प्रणीत आधारों से रहित होने के कारण प्रमाणिक नहीं जंचता है।

उक्त विद्वानों के अतिरिक्त श्री १०८ मुनि श्री सूर्यसागर जी महाराज, पं० प्रेमचंद जी काव्यतीर्थ कलकत्ता, पं० सुरेशचंद जी न्यायतीर्थ सहारनपुर, पं० अमोलकचंद जी स० महामंत्री महासभा, पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ बनारस,

पं० रवीन्द्रनाथ जी न्यायतीर्थ रोहतक, पं० मङ्गलप्रसाद जी शास्त्री बिलसी, पं० परमानन्दजी शास्त्री खतौली, पं० न्यामतसिंह जी टोकरी, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी सूरत, ब्र० पारसदास जी अजनास, ब्र० छोटेलालजी भरतपुर, ब्र० शान्तिदासजी भुसावल, पं० भूपेन्द्रकुमार जी शास्त्री मन्दसौर, पं० भगवानदासजी शास्त्री मन्दसौर धर्मधीर पं० श्रीलाल जी पाटणी अलीगढ़, श्री० पं० दीपचंद जी वर्णी, पं० पातीरामजी शास्त्री मुरादाबाद, वा० कामताप्रसाद जी जैन एम आर. ए. एस. संपादक वीर, सुप्रसिद्ध समीक्षक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सरसावा, इत्यादि अनेक जैन पण्डितों ने चर्चासागर को अप्रामाणित एवं अमान्य घोषित किया है। सभी विद्वानों का नामोल्लेख करना कठिन है।

इनके अतिरिक्त श्री० सेठ मूलचंदजी किसनदास जी कापड़िया संपादक जैनमित्र लिखते हैं कि—यह चर्चासागर ग्रंथ ख़ास इसी हेतु से लिखा है कि भट्टारकीय आम्नाय शास्त्रोक्त मानली जाय। बहुधा भट्टारकों के शिष्य अजैन पण्डित होकर जैनधर्म धारण करते थे। जितने त्रिवर्णाचार हैं उनमें उन सर्व आचारों की जैनियों से मान्यता करादी गई है जो वैष्णव ब्राह्मण गृहस्थ किया करते थे। मंत्रों का परिवर्तन तो कहीं-कहीं कर दिया है, परन्तु पीपल की पूजा तक की पुष्टि की गई है! योनि पूजा भी लिखदी है!! उन ही त्रिवर्णाचारों की पुष्टि करने वाला यह चर्चासागर ग्रन्थ है। जैन धर्म कोई लौकिक रूढ़ि रिवाज नहीं है, यह तो आत्मा की शुद्धि का वैज्ञानिक उपाय है। इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का ही साम्राज्य है। बड़े २ सर्व ही प्राचीन जैन ऋषियों ने वीतराग सर्वज्ञ देव को ही देव मानने की आज्ञा दी है, वीतराग मूर्ति की ही आराधना बताई है

और यह ठोक ठोक कर कहा है कि बिना सांसारिक इच्छा के भक्ति करो। मात्र आत्मा के शुद्ध गुणों में भक्ति लाने को भक्ति करो। मात्र वीतरागभाव जानने के लिये भक्ति करो। भावों से ही बुरा व भावों से ही अच्छा होना जैनधर्म बताता है। श्री० कुन्दकुन्द, समंतभद्र, पुज्यपाद, अमृतचंद्र, अमितिगति आदि आचार्यों के प्रतिपादित धर्म से विरुद्ध जिस किसी ग्रंथ में बातें हों उनको जैनधर्म नहीं कहा जा सकता।

**दानवीर तीर्थभक्तशिरोमणि, राज्यभूषण, रायबहादुर, रावराजा, सरसेठ सरूपचन्द जी हुकमचन्द जी नाइट इन्दौर**—चर्चासागर जो नया छपा है उसके बाबत हमारी सम्मति तो इसके विरुद्ध है ही और हमने तो सब प्रतियाँ यहां अलमारी में बन्द करवादी हैं आदि।

**श्रीमान् तीर्थभक्त रायबहादुर धर्मवीर सेठ टीकमचंदजी सोनी अजमेर**—चर्चासागर की अनेक चर्चायें श्री आर्ष आगम के प्रतिकूल हैं, इससे जनता में मिथ्यात्व बढ़ने की संभावना है। अतः इसका प्रचार रोक देना चाहिये। इस विषय में आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है।

**श्रीमान् रा० ब० सेठ चम्पालाल जी रामस्वरूप जी ( रानीवाले ) नयानगर**—यहां की पंचायत तो इस ग्रन्थ के विरोध में है। अफ़सोस इस बातका है कि महासभा का मुख्य पत्र "जैनगज़ट" इसकी पुष्टि कैसे करता है।

**श्रीमान् रा० ब० धर्मवीर ला० हुलासराय जी रईस सहारनपुर**—मैं उन ग्रन्थों को जो कि शुद्धाम्नाय के प्रतिकूल हैं विरुद्ध हूं और उनका कट्टर विरोधी हूं। इस चर्चासागर, का घोर विरोध करना चाहिये, मैं कटिबद्ध हूं।

श्रीमान् पं० निर्भयरामजी सा० देहली—इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वथा रूपसे बन्द होना अत्यन्त ज़रूरी है।

श्रीमान् सेठ गम्भीरमलजी सा० पाण्ड्या कलकत्ता—इस ग्रन्थ में सहायता देने में हमने धोखा खाया, न तो हमने इसका स्वाध्यायही किया था और न किसी विद्वान्के सुपुर्द ही काम किया था। क्षु० ज्ञानसागर जी की प्रेरणा एवं पं० लालारामजी शास्त्री के द्वारा हिन्दी उल्था जानकर ही विश्वास के बल इसके प्रकाशनार्थ सहायता दी थी, हम मूल संघानुयायी कट्टर तेरहपंथी हैं। उसके विरुद्ध सब बातों को अप्रमाण करार देते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक श्रीमानों की सम्मतियाँ चर्चासागर के विरोध में हैं, जो स्थानाभाव से प्रगट नहीं की गई हैं।

## पंचायतों का विरोध

विद्वानों और श्रीमानों के अतिरिक्त अनेक नगर की पंचायतों ने भी साम्प्रदायिक विरोध किया है। यथा—

अजयगढ़ ( टीकमगढ़ )—में वेदीप्रतिष्ठा के समय ५०० जैनों ने सामुदायिक विरोध एक ही स्वर से किया तथा चर्चासागर के प्रचारक पं० मक्खनलाल जी न्यायालङ्कार, पं० लालाराम जी, पं० नन्दनलाल जी आदि के प्रति घृणा प्रदर्शित की गई।

द्रोणगिरि क्षेत्र पर—मुनि श्री सूर्यसागरजी महाराज. न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी तथा पं० मोतीलाल जी वर्णी, आदि के समक्ष अनेक ग्राम के सैकड़ों जैन

भाइयों ने एक स्वर से चर्चासागर और उनके प्रचारकों का विरोध किया है।

**बीना बारह प्रान्तीय सभा**—के २०० गाँव के जैन भाइयों ने चर्चासागर का सख्त विरोध किया है।

**इसके अतिरिक्त**—देवबंद, रोहतक, खणौन, बड़वाहा, एत्मादपुर, जौन, ललितपुर, खुरई, मन्दसौर, रीठी, पानीपत, हाथरस, रतलाम, देहली ( के करीब ८० महाशयों के हस्ताक्षरोंसहित एक विरोधपत्र प्रगट हुआ था ), कलकत्ता, बम्बई, ब्यावर, सहारनपुर, खण्डवा, सतना, रीवां, अम्बाला, पुलगांव, तथा खतौली आदि अनेक स्थानों पर चर्चासागर का बहिष्कार किया गया है।

चर्चासागर के समर्थकों में अभी तक किसी भी समाज-मान्य विद्वान् या श्रीमान् अथवा प्रभावक व्यक्ति की कोई भी सम्मति नहीं निकली है। साथ ही जिन्होंने प्रारंभ में चर्चासागर को शास्त्र-सिद्ध करना चाहा था वे सयुक्तिक एवं सप्रमाण खण्डन तथा चारों ओर से किये गये प्रबल विरोध के कारण चकचौंधया कर न जाने किस कोने में जा बैठे हैं? यह सब परिस्थितियाँ स्पष्ट बतला रही हैं कि चर्चासागर का संपूर्ण बहिष्कार हो चुका है और अब वह दिगम्बर जैन शास्त्र नहीं कहा जा सकता।

इति समाप्तम्।

# दानविचार-समीक्षा

पाठकों को यह जानकर अवश्य हर्ष होगा कि चर्चा-सागर की समीक्षा के समान ही दानविचार की भी समीक्षा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है। चर्चासागर के मूल आविष्कारक क्षुल्लक नामधारी ज्ञानसागर जी इस दानविचार के लेखक, और देहली निवासी ला० रतनलाल जी मादीपुरिया उसके प्रकाशक हैं। लेखक महोदय ने चर्चासागर के समान इस पुस्तक में भी अनेक आर्ष-विरुद्ध बातें लिख मारी हैं। अनेक आर्षविरुद्ध बातें ही नहीं अपितु अनेक बातों के अर्थ को भी इस तरह बिगाड़ा है कि जिससे सन्मार्ग के उल्टा होने का निश्चय है। आपने फ़र्माया है कि केवल वही भोजन जिसको मुनि ने कहकर अपने लिये बनवाया हो उद्दिष्ट है, आदि २। क्षुल्लक नामधारी जी को दानविचारके लिखते समय स्वयं भी यह निश्चय मालूम होता था कि वे एक जाल रच रहे हैं। इसी कारण उन्होंने दानविचार के शुरू में लिख दिया है कि मुनिसंघ का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि उन्होंने ये पुस्तक शुद्ध भावनाओं के बल पर लिखी होती तो उनको ऐसा लिखने की कदापि आवश्यक्ता न पड़ती। धर्मशील पाठक जब इसको पढ़ेंगे तब उनको स्वयं निश्चय होजायगा कि यह। दान विचार के नाम पर एक जाल रचा गया है।

दानविचार समीक्षा शीघ्र प्रकाशित होने वाली है इच्छुक महानुभाव हमें सूचित करने की कृपा करें।

—जौहरीमल जैन सराफ़,

दरीबा कलाँ, देहली।